श्री वीर निर्वाण- ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति
४८, सीतलामाता बाजार,
इन्दौर २, (मध्यप्रदेश)
मन्त्री बाबूलाल पाटोदी

प्रथम पुष्प
'निर्मल आत्मा ही समयसार'
विद्यानन्द मुनि
प्रथम आवृत्ति २५००
वी नि संवत् २४९८
ईस्वी सन् १९७२
मूल्य दो रुपये

नई दुनिया प्रेस,
इन्दौर



प्रात वन्दनीय चारित्र-शिरोमणि
परमपूज्य आचार्य
श्री १०८ महावीरकीर्तिजी
की
शान्त समाधि की पावन-पुनीत
स्मृति मे

□ □ □

जन्म
फिरोजाबाद वैशाख कृष्ण ९
वी नि स २४३७

दिवगति
महमाना माघ कृष्ण ६
वी नि स २४९८

प्रकाशकीय

'समयसार' विश्ववन्द्य आचार्य कुन्दकुन्द की एक ऐसी वहुमूल्य कृति है जिसे पढे विना कोई यह नही कह सकता कि उसने जैनतत्त्व या अध्यात्मविद्या की गूढताओ को ठीक-से समझ लिया है। यह उस यशस्विनी स्वाध्याय-परम्परा का सुधा-कलश है जिसने सदियो तक मुमुक्षुओ की ज्ञान-पिपासा को परितृप्त किया है और जिसे सदैव वडी श्रद्धा, भक्ति, विनय और गौरव के साथ पढा गया है। आचार्य कुन्दकुन्द के नामोच्चार मात्र मे ऐसी कुछ महानता और विलक्षणता है कि आत्मा सहज ही निर्मलता की ओर पग वढा देती है। यथार्थत इस नाम मे एक अलौकिक आध्यात्मिक ललक और स्फूर्ति स्वयमेव सन्निहित है। आचार्य कुन्दकुन्द का कृतित्व एकता, समन्वय और आध्यात्मिक ऊचाइयो का सर्वोपरि प्रतीक है, इसने दक्षिण और उत्तर की मेधा को समन्वित किया है, और न केवल जैन अपितु जनमात्र को अपनी निर्मलता के स्पर्श से उपकृत किया है। वास्तव मे 'समयसार' को जैनतत्त्वकृति कहना उसकी उदार परिधि को सीमित करना है, यह तो मानव-मात्र के कल्याण की एक सुसिद्ध सुकृति है। तमिल भाषा का "कुरल काव्य" जिनकी लेखनी का चमत्कार है, वे "समयसार" के रचयिता कुन्दपुष्प-सी शुभ्र-धवल कीर्ति के धनी कुन्दकुन्दाचार्य ही हैं, जिन्हे एलाचार्य प्रभृति विभिन्न नामो से भी जाना जाता है। "समयसार" मे भेदविज्ञान जैसे गहन-गभीर विषय को सरल-सरस और अर्थगर्भा प्राकृत की लोकोपयोगी शैली मे प्रस्तुत करने का महत्कार्य सपन्न हुआ है।

'समयसार' जितना गहन है, सयोग से इधर के दो-तीन दशको मे वह उतनी ही चर्चा और समीक्षा का विषय भी वना है। ध्यान से देखा जाए तो उसकी बहुचर्चित व्याप्ति का कोई ओर-छोर नही है। एक ओर वह जहाँ अध्यात्मविद्या के मर्मज्ञो और रसिको का सबल है, वही दूसरी ओर वह सद्‌गृहस्थो के सामान्य और दैनदिन स्वाध्याय का विषय भी है, किन्तु दु ख इस वात का है कि जिन्हे भेदविज्ञान की वर्णमाला का भी ठीक-ठीक वोध नही हुआ है, वे भी इसकी सतह को ओढकर स्वय को प्रवुद्ध समयसारी और आत्मानन्दी कहने लगे है। "समयसार" की अन्तर्दृष्टि विचक्षण है, वह एक साथ ही सुगम और दुर्लध्य है, सरल और पेचीदा है। प्रश्न ग्रन्थ

के वाचन का नही है, परिपाक और पाचन का है, सवाल असल मे यह नही है कि आपने इस वहुमूल्य कृति को कितनी वार पढा है, मूल मुद्दा यह है कि क्या आप इसकी अन्तरात्मा को पहिचान पाये है, क्या आप इसका समीचीन समीक्षण और सतुलित मूल्याकन कर पाये हैं, क्या इसकी गाथाओ ने आपकी आत्मा का स्पर्श किया है, क्या इसके अर्थ की मथानी ने आपके आत्म-सिन्धु को आलोडित किया है? "निर्मल आत्मा ही समयसार" "समयसार" की सर्वप्रथम मौलिक, समन्वित, अधुनातन और युक्तियुक्त सक्षिप्त प्रस्तुति है। ध्यान से देखा जाए तो यह उसकी अन्तरात्मा की सही परख और गहरी तलाश है। इसे पढकर "समयसार" का सहज रहस्यवोध हो जाता है, भेद-विज्ञान का असली छोर जिज्ञासा की अगुलियो की पकड मे आ जाता है। प्रस्तुत कृति परमपूज्य मुनिश्री विद्यानन्दजी के वर्षावास (वी नि सवत् २४९७) की अमृत प्रसादी है। इसमे उनके इतवारिया धर्मशाला, गीताभवन, और इन्द्रभवन (तुकोगज) मे "समयसार" पर दिये गये सात प्रमुख प्रवचनो का मार सकलित है।

इसे सुखद सयोग ही कहा जाएगा कि "निर्मल आत्मा ही समयसार" मालवे की हरी-भरी आध्यात्मिक फसल है और यदि यह सही है (प नाथूरामजी "प्रेमी" ने 'ज्ञानप्रवोध' के आधार पर इस तथ्य को सामने रखा है) कि आचार्य कुन्दकुन्द मालव देश के करापुर ग्राम के कुन्द श्रेष्ठी के पुत्र थे, तो हम गौरवान्वित हैं कि मुनिश्री विद्यानन्दजी ने आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व हुए आचार्य-प्रवर की अध्यात्म भारती को अपनी समकालीन प्राकृत (हिन्दी) मे सुलभकर भारतीय जनता के प्रति वहुत वडा उपकार किया है। आज जवकि हमे अपनी ही भौतिक उपलव्धियो के विपधर ने डस लिया है, "समयसार" की यह सुगम-सरस प्रवोधिका विपापहार का काम करेगी। इस चदनलेप से निर्विप होकर हम आध्यात्मिक वैभव की ओर कदम उठाने मे समर्थ हो सकेंगे। हमे विश्वास है, इससे हम अपने अतरग को वुहारकर निर्मलता को प्रतिष्ठित कर सकेंगे और समयसार के यथार्थ को समझ सकेंगे।

वडे हर्प का विपय है कि हम 'निर्मल आत्मा ही समयसार' जैसी उत्कृष्ट कृति को श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति, इन्दौर ने अपने प्रथम पुष्प के रूप मे प्रकाशनार्थ चुना है। यह पुष्प परम पूज्य मुनिश्री विद्यानन्दजी के चातुर्मास का जीवन्त शुभाशीष है। उन्ही की शुभ प्रेरणा से उक्त समिति की स्थापना हुई है, जो पच्चीस सौवे वीर-निर्वाणोत्सव के उपलक्ष्य मे लोकोपयोगी-अल्पमोली सत्साहित्य

के प्रकाशन के लिए कृतसकल्प है। समिति का लक्ष्य है कि वह इधर के दो वर्षों मे, दुर्लभ और अप्राप्य प्राचीन तथा सास्कृतिक महत्त्व के साहित्य को सरल-सुबोध भाषा और अधुनातन शैली मे उपलब्ध करे और उसे जन-जन तक पहुचाये। समिति का कार्य विधिवत् चल रहा है और कुछ चुने हुए विद्वान् इसके अन्तर्गत कार्यरत हैं।

प्रस्तुत कृति समिति का सर्वप्रथम प्रसून है, जिसकी हर पाखुरी मे परम पूज्य मुनिश्री विद्यानन्दजी के तप पूत व्यक्तित्व की सुवास और सुरभि व्याप्त है। यह मुनिश्री की साधनोज्ज्वल वाणी और उनके अप्रतिम व्यक्तित्व का मकरन्द है, जिसकी सुगन्ध दिग्दिगन्त तक फैलकर कई भ्रान्तियो का परिहार करेगी और अध्यात्म विद्या के अनुरागियो की प्यास बुझा सकेगी। समिति मुनिश्री के प्रति जितनी भी कृतज्ञता का अनुभव करे कम है, हमे विश्वास है मुनिश्री की सुखद-प्रेरक छाया मे समिति सत्साहित्य के प्रकाशन-लक्ष्यो को यथाशीघ्र पूरा कर सकेगी (परिचय तथा भावी कार्यक्रम के लिए देखिये पृष्ठ ६०-६२)।

समिति को विश्वास है कि जिज्ञासु पाठकवर्ग इन प्रकाशनो से पूरा-पूरा लाभ उठायेगा और इन्हें भारत के गाव-गाव और नगर-नगर तक पहुचाने मे हमारी तन-मन-धन से सहायता करेगा। अन्त मे हम कहेंगे कि "निर्मल आत्मा ही समयसार" एक अलौकिक कृति है, जिसमे मुनिश्री ने "समयसार" के सागर को अपनी सुविध ज्ञानाजलियो मे समेटकर सर्वजनसुलभ किया है। आशा है यह सुकृति मुमुक्षुओ मे समादृत होगी और इसका दिशाबोधक उपयोग होगा।

१ जनवरी १९७२

मत्री,
श्री वीर निर्वाण-ग्रन्थ-प्रकाशन समिति,
इन्दौर, मध्यप्रदेश

सामयिक भी, सामायिक भी

जीवात्मा का अन्तिम गन्तव्य मोक्ष है, जिसे स्व-समय कहा गया है एव उसकी अन्तिम भावानुभूति परम पारिणामिक भाव है, जो उसके अपने परिणाम है।

समय का ज्ञाता तो वह है जिसने "नाह देह· कुतो मृत्यु" के रहस्य को जान लिया है।

वस्तुत निर्मल आत्मा की प्राप्ति को ही सर्वोपरि मानने वालो को इतर हेय द्रव्यो के समान गण, गच्छ और सघ भी अन्तत त्याज्य है। जहाँ निर्ग्रन्थ अवस्था अशेप ग्रन्थि-विमोककारिणी है, वहाँ निर्मल आत्मद्रव्य के अतिरिक्त कौन स्वकीय है ?

जितना समय समय को दिया गया वह सामयिक है और सामायिक भी; किन्तु समय-तन्मयता से वहिर्भूत समयोपयोग असामयिक और असामायिक है। □□



मुनिश्री विद्यानन्दजी

समयसार भूतोऽयम्

"बद्धो वा मुक्तो वा चिद्रूपो नयविचारविधिरेष·,
सर्वनयपक्षरहितो भवति हि साक्षात् समयसार·॥

चैतन्य आत्मा कर्मनिवद्ध है तथा मुक्त भी है, यह नय-विचार की विधि है, विचारातीत अवस्था मे आत्मा सर्वनयपक्षातीत है अर्थात् विचार और शव्द की परिधि और पकड से परे है। यही निर्मल आत्मा समयसार है।

समयसार मोक्षस्वरूप है, यह स्वपरिणति है अत इसका मनन-चिन्तवन अथवा वाणी से प्रकाशन सभव नही है। जवतक पर-परिणति है, विकल्प है, तव तक समयसार की उपलव्धि के प्रयत्न होते है। पर-परिणति वन्धन है, स्व-परिणति मोक्ष है, यही सारभूत है। व्यवहार नय के जितने भी पक्ष है, वे वन्ध के कारण है, साधक अवस्था के अग है। साधक की अवस्था मे देवपूजा, गुरूपास्ति, शास्त्र-स्वाध्याय इत्यादि साधनो का आश्रय ग्रहण किया जाता है। ये अवलम्वन मोक्षोपलव्धि के कारण होते हुए भी साधनावस्था मे वन्धक है। यद्यपि 'समयसार' की गाथाए ससार-वन्ध का निवर्तन करानेवाली है, तथापि जवतक शव्दरूप वाक्यवृत्ति का अभ्यास-अनुशीलन मन पर छाया हुआ है तव तक परिणाम मे मोक्षतत्त्व का उपस्थापन करनेवाली गाथाएँ भी वन्धन से व्यावर्तित नही करती। उनकी वाचना जव निर्ग्रन्थ-स्थिति (अतरग-वहिरग दोनो) मे सुस्थित होकर उन गाथाओ के सार को आत्मसात कर लेती है, पचाकर स्वरूप-सवित्ति का अग वना लेती है, तभी उनका वन्ध-पराङमुख अर्थ आत्मकल्याणकारी हो पाता है, अत मोक्षअवन्ध के लिए भी साधनावस्था मे देवगुरुशास्त्रादि का कथचित् वन्ध अपेक्षित है, यथा—

"मृत्पिण्डदण्डचक्रादि घटो जन्मन्यपेक्षते ।
उदकाहरणे तस्य तदपेक्षा न विद्यते ।।"

अर्थात् घडे की रचना के समय मिट्टी ,दण्ड, चक्र, कुम्हार इत्यादि की अपेक्षा होती है, किन्तु उसमे जल लाया जाता है, तव ये सभी अनावश्यक हो जाते है इनकी कोई अपेक्षा नही रहती । ग्रन्थ और ग्रन्थ की प्रतिपत्ति मे भी यही दृष्टान्त समझना चाहिए । शब्दो के अर्थ जव आत्मा मे गहरे पैठ जाते है, तव ग्रन्थो की अपेक्षा नही रह जाती ।

इन सारे प्रसगो का सार केवल इतना ही है कि दोनो नय परस्पर सापेक्ष है । मोक्षमार्ग मे दोनो का अवलम्बन है । पदार्थ अथवा आत्मबोध मे दोनो ही यथारीति ग्राह्य है । केवल निश्चय अथवा केवल व्यवहार का दुराग्रह कोरा मिथ्यात्व है, जव स्वात्मोपलब्धि हो जाती है, तब दोनो स्वत छूट जाते है—वहाँ पूर्ण ज्ञानज्योति ही अपने विशाल वैभव मे दमकती है । आत्मोपलब्धि से पूर्व की प्रयत्नावस्था में आचार्यों ने व्यवहार को निश्चय में सहायक बतलाया है और तदनन्तर निश्चय रूप विकल्प को भी हेय बतलाकर शुद्ध स्वरूपाचरण को ही प्रमुखता दी है, अर्थात्—

"मुख्योपचारविवृतिव्यवहारोपायतो यतः संताः ।
ज्ञात्वाश्रयन्ति शुद्धं तत्त्वमिति व्यवहृतिः पूज्याः ।।"

—पद्मनन्दि पचविंश ५०।११

मुख्य शुद्धनय मे उपचार कथन करनेवाला व्यवहारनय है, सज्जन पुरुष व्यवहार की सहायता से शुद्ध का अवलम्बन करते है, इस दृष्टि से व्यवहार भी ग्राह्य है, अधिक उपकारक और पूज्य है । अणुव्रत-महाव्रत के विवेचन मे जैसे अणुव्रत को महाव्रत मे सहायक माना है अथवा एक-देश और सर्वदेश का भेद किया है, वैसे ही इन नयो मे भी अपेक्षा और परस्पर सहकार दृष्टि है । साधक-अवस्था मे दोनो ही कार्यकारी है ।

"निरत. कात्स्न्यं निवृत्तो भवति यति समयसारभूतोऽय।
या त्वेकदेशविरतिनिरतस्तस्यामुपासको भवति ।।"

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ४१, आचार्य अमृतचन्द्र

साक्षात् समयसार की उपलब्धि में अमृतचन्द्राचार्य प्रभृति मान्य आचार्यों ने दर्शन-ज्ञान-चारित्र की त्रयी को प्रधानता दी है और ज्ञान-चारित्र द्वारा उसे प्राप्त करने पर पूरा-पूरा बल दिया है। ज्ञान और चारित्र प्रयत्नसाध्य है, किन्तु दर्शन के सबध मे स्थिति भिन्न है। यही कारण है कि श्रावक की प्राथमिक अवस्था को अणुव्रतो मे और अणुव्रतो को महाव्रतो मे हेतु माना गया है तथा ज्ञान और चारित्र को प्रयत्नाधीन कहा गया है। यद्यपि ज्ञान-चारित्र भी क्षयोपशमादि पर ही अवलम्बित है तथापि प्रमाद और अकर्मण्यता के उत्तरोत्तर परिहरण की दृष्टि से इनमे प्रवृत्त होना उचित है। सम्यग्दर्शन के प्रसग मे यह अवश्य कहा जा सकता है कि उसकी उपलब्धि मे प्रयत्न का सीधा हाथ नही है, वह कालादिलब्धियो पर आश्रित है। दूसरी ओर चारित्र मे यत्नवान होने पर परिणामो मे निर्मलता आयेगी, अनुज्ज्वलता से अभिरक्षा होगी, फलत परिणाम-निर्मलता मे कारणभूत ज्ञान-चारित्र का तिरस्कार कर, उसकी अवहेलना करते हुए केवल सम्यग्दर्शन का दुराग्रह करना या उसकी रट लगाये रहना कार्यकारी नही है। तर्कसगत और समीचीन तो यह है कि जैसे-जैसे चारित्र आगे बढेगा वैसे-वैसे परिणामो मे सरलता आयेगी और आत्मानुभूति अर्थात् तत्त्वश्रद्धान का सुयोग स्वयमेव उपस्थित होगा। यह स्वाभाविक और तर्कसम्मत प्रक्रिया है। आचार्य सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के प्रसग मे लिखते है—

"दैवात् कालादि सलब्धौ प्रत्यासन्ने भवार्णवे।
भव्यभाव विपाकाद्वा जीवः सम्यक्त्वमश्नुते।।"

—पचाध्यायी, २।३७८

योग्यतावश कालादिलब्धियो के प्राप्त होने पर जब ससार-समुद्र निकट रह जाता है और भव्य भाव का परिपाक होता है तब यह जीव सम्यक्त्व को प्राप्त होता है। 'यहाँ प्रत्यासन्ने भवार्णवे' -ससार-समुद्र के निकट रहने का अर्थ, 'अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल की शेषता और योग्यता वश का भाव चारित्राधारित परिणाम-निर्मलता, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का सुयोग आदि समझना चाहिए। इस तरह यह स्पष्ट निष्कर्ष है कि सम्यग्दर्शन प्रयत्नसाध्य नही है ।

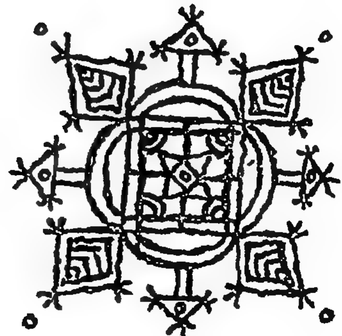
उक्त प्रसग मे यह भी उल्लेखनीय है कि हुडावसर्पिणीरूप पचम काल मे तो सम्यग्दर्शन की, सम्यग्दृष्टियो की उपलब्धि और भी कष्टसाध्य, दुर्लभ है इसीलिए जीव अधिकाशत मिथ्यात्वगृहीत देखे जाते है। उक्त समीक्षण का फलितार्थ यो लेना चाहिए कि कषायो को मन्द करने मे कारणभूत ज्ञान-चारित्र की शरण ग्रहण करनी चाहिए और उन्ही की अनवरत उपासना करनी चाहिए। इसका स्वाभाविक फल यह होगा कि कषायादि मन्द होने और मिथ्यात्व के उपशमादि के कारण सम्यग्दर्शन स्वयमेव प्रकट होने लगेगा, हो जाएगा। वस्तुत सम्यग्दर्शन की निष्पन्नता के लिए प्रयत्न नही किया जाता, वह तो ज्ञान-चारित्र की उपासना का अनन्य और अपरिहार्य फल है। यदि कालादिलब्धि है तो उसकी उत्पत्ति अवश्यम्भावी है, उसे कौन टाल सकता है · अवसर्पिणी कालदोष के प्रसग मे आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

"उवसमइ सम्मत्त मिच्छत्तबलेण पेल्लए तस्स ।
परिवट्टंति कसाया अवसप्पिणिकालदोसेण ।।"

—रयणसार, १५५

वास्तव में 'समयसार' का समीक्षण-विवेचन एक दुस्तर कार्य है, तथापि सन्त-समागम और उपयुक्त मार्गदर्शन से कुछ भी असभव नही है। वीर निर्वाण सवत् २४७१ (१९४५ ई०) का पुण्य-प्रसग है। उन दिनो सयोग से प्रात स्मरणीय परम पूज्य आचार्य श्री महावीरकीर्तिजी

रत्नत्रयपुरी (शेडवाल) मे वर्षावास में बिराज रहे थे। भाद्रपद शुक्ल १४ को प्रात १० बजे आचार्यश्री ने मुझे 'समयसार' जैसे ज्ञान-महोदधि' मे अवगाहन का अपूर्व अवसर दिया, उसमें प्रवेश कराया। यथार्थ मे यह उन्ही की अनुकम्पा का सुफल है कि मैंने उस महान् ज्ञानोदधि के किंचित् तलस्पर्श से यहाँ कतिपय मणियाँ आकलित की है, ऐसा करते हुए यद्यपि मेरी दृष्टि अनवरत आत्मसाक्षात्कार की ओर ही बनी रही है, तथापि यह भी कामना रही है कि सुमुमुक्षुओ और जिज्ञासुओ को 'समयसार' पर एक स्वस्थ, सही, सतुलित और पूर्वाग्रहमुक्त दृष्टि प्राप्त हो। 'निर्मल आत्मा ही समयसार' इसी शभाकाक्षा की अकिचन परिणति है। किमधिकम्।



निर्वाण-वीथि के दीपक

पर-परिणति बन्धन है, स्व-परिणति मोक्ष है, यही सारभूत है ।

समयसार की गाथाएं संसार-बन्ध का निवर्त्तन करानेवाली हैं, तथापि जब तक शब्दरूप वाक्यवृत्ति का अभ्यास-अनुशीलन मन पर छाया हुआ है, तब तक परिणाम में मोक्षतत्त्व का उपस्थापन करनेवाली गाथाएं भी बन्धन से व्यावर्तित नहीं करतीं ।

शब्दो के अर्थ जब आत्मा मे गहरे पैठ जाते हैं, तब ग्रन्थो की अपेक्षा नही रह जाती ।

ज्ञान और चारित्र प्रयत्नसाध्य हैं, किन्तु दर्शन के सम्बन्ध मे स्थिति भिन्न है । सम्यग्दर्शन की उपलब्धि में प्रयत्न का सीधा हाथ नहीं है, वह कालादिलब्धियो पर आश्रित है । तर्कसम्मत और समीचीन तो यह है कि जैसे-जैसे चारित्र आगे बढ़ेगा, वैसे-वैसे परिणामो में सरलता आयेगी और आत्मानुभूति अर्थात् तत्त्वश्रद्धान का सुयोग स्वयमेव उपस्थित होगा । यह स्वाभाविक और तर्कसंगत प्रक्रिया है ।

"जे व्यवहार कूं सर्वथा असत्यार्थ कहे हैं तै तो जिनमत तें प्रतिकूल है, तिनिकी सगति ही स्व-पर की घातक है ऐसा जानना ।"

आत्मा की शोध करने जा रहे हो और उसे पुद्गल-पर्यायो मे खोज रहे हो । यह तो वाञ्छितोपलब्धि का पथ नहीं । सुनो, विलक्षण उपलब्धि का मार्ग भी विलक्षण होता है । तुम यह सब प्रवचन, मेधा-बल तथा श्रुत-दर्प छोडो । कुछ काल मौन रहो तथा अपने में ही उस अन्वेष्टव्य का अन्वेषण करो ।

शान्ति की इच्छा है तो बन्धनो को झटक दो और अपने-आप मे स्थित हो जाओ ।

जीवन का सार समय है और समय का सार स्व-समय । वाणी का उपयोग समय का व्याख्यान है, श्रोत्र की सफलता समय-विषयक श्रुति है, नेत्रो का दृष्टिमत्व समय का सम्यग्दर्शन है । वह प्राणो का प्राण है, हृदय का हृदय है, चक्षु का चक्षु है, नरकान्धकूप-पतन से निवारण करनेवाला है, स्वर्ग के लिए मणि-सोपान है और निर्वाण-वीथि का दीपक है । • •

स्व-पर घातक है ऐसा जानना

'बहुरि श्लोकवार्तिक में ऐसें कह्या है-जो एवभूत नय तौ निश्चय है। जातें जिसकी जो सज्ञा होय तिस ही क्रियारूप परिणमता पदार्थ होय सो याका विषय है। जैसे चैतन्य अपना चैतन्य भावरूप परिणमै ताकू चैतन्य ही कहै। क्रोधी कू क्रोधी ही कहै इत्यादि। बहुरि व्यवहार अशुद्ध द्रव्यार्थिक कूं कहा है। जातें दोय भाव तथा द्रव्य मिले बिना व्यवहार चलै नाही। दोय मिलै तब अशुद्धता भई। सो यह निर्देशादिक अधिकार मै लिखी ही है। इहाँ प्रश्न, जो, निश्चय नय तौ सत्यार्थ है व्यवहार असत्यार्थ है–त्याजने योग्य है, सो यहु उपदेश कैसे है? ताका उत्तर–जो, उपदेश दोय प्रकार प्रवर्तै है। तहाँ एक तौ आगम। तामै तो निश्चय द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक दोऊ ही नय परमार्थ रूप सत्यार्थ कहे हैं। अर प्रयोजन अर निमित्त के वश तै अन्य द्रव्य गुणपर्यायनिका अन्य द्रव्यगुण पर्यायनिविषै आरोपण करना, सो उपचार है। याकूं व्यवहार कहिये असत्यार्थ भी कहिये गौण भी कहिये। बहुरि दूसरा अध्यात्म उपदेश। तामै अध्यात्म ग्रथ का आशय यह है, जो आत्मा, अपना एक अभेद नित्य शुद्ध असाधारण चतन्य मात्र शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय-भूत है। सो तौ उपादेय है।

बहुरि अवशेष भेद पर्याय अनित्य अशुद्ध तथा साधारण गुण तथा अन्य द्रव्य ए सर्व पर्यायनय के विषय तें सर्व होय है। काहे तैं? जातै यह आत्मा अनादितै कर्मबध पर्याय मैं मग्न है। क्रमरूप ज्ञान तैं पर्यायनि कू ही जाणै है। अनादि अनत अपना द्रव्यत्व भाव का याकै अनुभव नाही। तातै पर्याय मात्र मे आपा जानै है। तातै ताकूं द्रव्य दृष्टि करावने के अर्थि पर्यायदृष्टि कू गौणकरि असत्यार्थ कहि करि एकात पक्ष छुडावने के अर्थि झूठा कह्या है। ऐसा तौ नाही, जो, ए पर्याय सर्वथा ही झूठे है कछु वस्तु नाही आकाश के फूलवत् है। जो

अध्यात्मशास्त्र का वचन कूँ सर्वथा एकात पकडि पर्यायनि कू सर्वथा झूठा मानै तौ वेदान्ती तथा साख्यमती की ज्यौ मिथ्या दृष्टि ठहरै है। पहलै तौ पर्यायबुद्धि एकात मिथ्यात्व था। अव ताकूँ सर्वथा छोडि द्रव्यनय का एकात मिथ्या दृष्टि होगा, तब गृहीत मिथ्यात्व का सद्भाव आवैगा। वहुरि उपनय के भेदनिविषै सद्भूत असद्भूत उपचार कहै है। ते कथचित् असत्य भी मानने। जातै ऐसा कह्या है, जो, प्रयोजन तथा निमित्त के वश तै प्रवर्तै अन्य कूं अन्य कहनाँ तहाँ उपचार है सो परस्पर द्रव्यनि कै निमित्त नैमित्तिक भाव है। सो तो सत्यार्थ है ही। तातै ससार मोक्ष आदि तत्त्वनि की प्रवृत्ति है। जो निमित्त-नैमित्तिक भाव झूठा होय तौ ससार मोक्ष आकाश के फूल ज्यौ ठहरै। वहुरि तैसे ही जहाँ पुरुष का प्रयोजन है ताकै अर्थि जो प्रवृत्ति है, सो भी कथचित् सत्यार्थ है। जो प्रयोजन तथा प्रयोजन का विषय पदार्थ सर्वथा असत्यार्थ होय तो आकाश के फूल की ज्यौं झूठा ठहरै। तथा एकेन्द्रियादिक जीव कूँ व्यवहार करि जीव कह्या है। सो व्यवहार सर्वथा झूठा ही होय तौ जीव 'हिसादिक का कहना झूठा ठहरै। परमार्थ तै जीव तौ नित्य है अमर है। एकेद्रियादिक जीव कहना झूठ है झूठा के घात विषै काहे की हिंसा? तथा याका विस्तार कहा ताई कहिये? **जे व्यवहार कू सर्वथा असत्यार्थ कहै है ते तौ सर्व व्यवहार के लोप करने वाले तीव्र मिथ्यात्व के उदय तै गाढ़े मिथ्यादृष्टि है—जिनमत ते प्रतिकूल है, तिनिको संगति ही स्व-पर की घातक है ऐसा जाननां।'**

—सर्वार्थसिद्धि वचनिका प जयचद छावडा
प्रथम अध्याय पृ २१५-२१७

निर्मल आत्मा ही समयसार

"नम. समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते ।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ।।"

—समयसार कलश, १

स्वानुभूति से चकासित, चैतन्य स्वभाव, सत्तात्मक एव सम्पूर्ण इतर भावो के उच्छेदक समयसार (निर्मल आत्मद्रव्य) को नमस्कार है ।

एक अन्तिम शिखर-केतु

यह आत्मस्तुति है, आत्मवन्दना है, स्व की अर्चा है, नमस्यो की परम्परा मे एक अन्तिम शिखर-केतु है । इस आत्मपरिणति की अवस्था को प्राप्त करने के पूर्व अनेक परद्रव्यो को नमस्कार करते जन्म बीता । अनेक स्थानो पर स्वाध्यायमुख से, देवार्चन विधि से, गुरु-उपासना से, तीर्थ-पर्यटन से, बुद्धि-कौशलसे परम नमस्य किसी गूढ तत्त्व का अन्वेषण करते रहे । ग्रन्थो के अक्षरो मे उसे स्वाध्याय की चलनी से छानकर देखने का अभीक्षण प्रयास किया और तब एक दिन किसी प्रबल प्रशस्त योग से सूर्य-शलाकाओ से रात्रि के तिमिर के सम्पूर्ण घटाटोप का विध्वस कर निर्मल, निरवद्य आत्मदेव का प्रादुर्भाव हुआ । उसका साक्षात्कार होते ही ग्रन्थ खुले-के-खुले रह गये, प्रवचन के श्लोक अर्धोक्ति मे समाप्त हो गये और सम्पूर्ण आत्म-भिन्न पटल दिवास्वप्न हो गये । प्रतिक्षण अन्य द्रव्यो को नमस्कार करनेवाले पाणियुगल आज अपने अन्त स्थ को प्रणामाजलि समर्पित करने के लिए उत्कण्ठित हो उन्मत्त ताल में गाने लगे— 'नमः समयसाराय' 'नम समयसाराय' 'नम समयसाराय' ।

उत्तम रसास्वाद

यह विलक्षण अनुभव है, अद्भुत अमृत स्पर्श है । अमृतस्यन्दी इन्दु-किरणो का स्पर्श क्या इतना आह्लादक हो सकता है? क्या पर-

द्रव्यो का अनन्त समवाय युगपत् मिलकर ऐसा अलौकिक आनन्द मन्दिर निर्माण कर सकता है ? निषेध-भारती मे ही इसका उत्तर दिया जा सकता है । ससार का कोई शब्द, कोई रस, कोई वर्ण, कोई गन्ध इस रसगन्धवर्णादि रहित आत्मा से प्रसूत उत्तम रसास्वाद का, अनुपम सुरभि और अवर्णनीय वर्ण का वर्णन नही कर सकता । यदि अन्य द्रव्यो मे इसकी समता का अथवा अतिशायिता का सामर्थ्य होता तो इसे 'सर्वभावान्तरच्छित्' कैसे कहा जा सकता ?

कैसे ठहरती

स्वानुभूति तो आज हुई । इससे पूर्व मे हुई अनुभूतियो मे तन्मय अवस्था की प्रतीति कहाँ हुई थी ? यदि तन्मयता की प्रतीति हुई होती तो अतन्मय वहिर्द्रव्यो मे रति कैसे ठहर सकती थी ?

अहो! ससार परिभ्रमण मे रात्रिन्दिव प्रसक्त रहने वाले काच-खडो का सचय कर उन्हे मणि-रत्न सज्ञा प्रदान करते है, कतिपय गन्धवहुल लता-वृक्षावली को स्थान-विशेष मे आरोपित कर उसे नन्दनवन कहने लगते है, स्त्री के लावण्य पर मुग्ध हो उसे लक्ष्मी अभिधान से विभूषित करते है और इस प्रकार 'धन कन कचन राजसुख' जैसे सुलभ पदार्थों मे रतिमुग्ध होकर उन्हे ही उपास्य, सेव्य और आवश्यक (उपादेय) मानने की भूल कर वैठते है, परन्तु ससार की यह भोगावली श्रम से, विनिमय से, बुद्धि से, वल और छल से मिलती रहती है । शास्त्रकारो ने इसे महान् नही माना । यदि ये विभूतियाँ तीर्थंकरो के भी हो, तो भी उन्हे इन नश्वर लोकसम्पदाओ से महनीय पदवी नही *

कुबेर-कोष से भी अक्रय्य

यहाँ दुर्लभपद का प्रयोग यदि किया गया है तो वह एकमात्र यथार्थ ज्ञान के लिए, क्योकि वह कुबेर-कोष-सम्पदा से भी क्रय्य नही

---

* देवागमनभोयानचामरादिविभूतय मायाविश्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ।।'—आप्त

तथा किसी बलाढ्य के बलदर्पविकत्थन से वशीकरणीय भी नही। यदि ऐसा होता तो ससार के धनिक और बलवान् सर्वाधिक आत्मवान् होते। उसकी प्राप्ति के लिए ऋषि-मुनि महाव्रती न होते। आत्मदर्शियो ने ऐसे वचन, मेधा और बहुश्रुत के दम्भ-पर्वतो को ध्वस्त करते हुए स्पष्ट कह दिया—

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन'

—क १।२।२२

इस आत्मा को प्रवचन से, मेधा से अथवा बहुश्रुत होकर प्राप्त नही किया जा सकता। तब इसे प्राप्त करने का मार्ग कौन-सा है? मानो इसी प्रश्न का समाधान करने के लिए समयसार टीका मे आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा— **'चित्स्वभावस्य स्वयमुपलभ्यमानत्वात्'**।

वस्तु कहीं, ढूंढे कहीं

हे आत्मार्थिन्! किन प्रपचो में पड गये हो? कहाँ वाद-कोलाहल और कहाँ आत्मा! यह तो वही उक्ति हुई 'वस्तु कही, ढूढे कही' अथवा 'आम्रान् पृष्ट कोविदारान् आचष्टे'-आम पूछ रहे है और कोविदार को बता रहे हो। आत्मा की शोध करने जा रहे हो और उसे पुद्गल-पर्यायो मे खोज रहे हो। पूर्व की ओर जाना चाहते हो और पश्चिम की ओर दौड लगा रहे हो। यह तो वाछितोपलब्धिका पथ नही। सुनो, विलक्षण उपलब्धि का मार्ग भी विलक्षण होता है। तुम यह सब प्रवचन, मेधा-बल तथा श्रुत-दर्प छोडो। कुछ काल मौन रहो तथा अपने में ही उस अन्वेष्टव्य का अन्वेषण करो। धैर्य रक्खो और प्रतीक्षा करो कि परिणाम क्या निकलता है?

वह शान्ति-वन जहाँ

'विरम किमपरेणाकार्य कोलाहलेन
स्वयमपि निभृत सन् पश्यषण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुस. पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धि ॥'

—स कलश, ३४

कोलाहल से दूर आत्मा का वह शान्तिवन है जहाँ आत्मा वक्ता, आत्मा श्रोता और आत्मा ही उस उक्त और श्रुत का ध्याता है। वहाँ का उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य अपूर्व है। उसे 'उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले' इस पक्ति द्वारा कथचित् स्पष्टीभूत कहा जा सकता है। कोलाहल तो मुखरभाव है और मुखरता अन्तःस्थ सगीत को बाहर करने का बलप्रयोग है जब कि इस आत्मसिद्धि के लिए बाह्यभाव-परिहाणपूर्वक अन्तर्मुख होना आवश्यक प्रतिपादित किया गया है। उपनिषदो मे इस आत्मस्थिति का वर्णन करते हुए ऋषियो ने कहा है कि जो आत्माराम है उन्हे स्वव्यतिरिक्त अन्य का सत्ता-बोध ही नही। जैसे जल से उत्पन्न बुदबुद जल मे ही खो जाते है, वैसे आत्मलीन आत्मा से उठकर आत्मा मे ही समाधिस्थ हो जाते है। उनको देखने, सुनने, वार्तादि करने के लिए किसी प्रकार के अन्य योग की अपेक्षा नही— 'यस्य सर्वमात्मैवाभूद् विजानत । तत्र क क पश्येत् क क पृच्छेत् क क शृणुयात् ।'— वहाँ तो ज्ञान-दर्शन-चेतना इतनी स्फीत हो जाती है कि उसमें अखिल विश्व की वेद्यता का समाहार हो जाता है। वहाँ पहुँचा हुआ पुरुष सर्वज्ञ हो जाता है, बुद्ध, वर्द्धमान, शिव कहाने लगता है जिसकी स्तुति मे तदनुगामियो के प्रार्थना-स्वर अमन्द हो उठते है।*

योगी एकाकी विचरण करे

साधनावस्था मे स्वाध्याय, पृच्छा, विचारणा, ऊहापोह, जिज्ञासा आदि को आवश्यक अवश्य कहा गया है। साधु-सगति का भी वहाँ महत्त्व पूर्ण योगदान है। यह तिमिर मे दीपकवत् अथवा पगु को यष्टि-आल-म्बनवत् साधन है। एक पर्वतारोही को आरम्भ मे आरोहणात्मक श्रम

---

*'यो विश्व वेद वेद्य जननजलनिधेर्भंगिन पारदृश्वा
पौर्वापर्याविरुद्ध वचनमनुपम निष्कलक यदीयम् ।
त वन्दे साधुवन्द्य सकलगुणनिधि ध्वस्तदोषद्विषत
बुद्ध वा वर्द्धमान शतदलनिलय केशव वा शिव वा ॥'

आवश्यक है और आरूढ होने पर उस श्रम से विरति अपेक्षित है। अत उस महत् ज्ञानमय ज्योति को प्राप्त करने के लिए सम्प्रश्नादि पूर्वावस्था मे (अनिष्पन्न पर्याय में) आवश्यक है। निष्पन्नावस्था में तो 'एक एव चरेद् योगी कुमार्या इव ककणम्'—योगी एकाकी विचरण करे, क्योकि 'द्वयोर्वार्ता भवेन् मिथ '— यदि युगल विहार करेगे तो परस्पर वार्तालाप होगा। वार्ता के लिए वाणी तथा जिह्वा-यत्र को प्रबुद्ध करना होगा तथा मनोव्यापार को प्रेरक बनाना पडेगा। वह मनोव्यापार वार्ता के लिए किन्ही प्रसगो का चिन्तन करेगा। वे प्रसग सदा आत्मिक ही होगे, ऐसा निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। तब चित्त मे विकल्पो का प्रादुर्भाव होगा, सशय उठेंगे और गन्तव्य पथ दिग्भ्रान्ति मे पड जाएगा।* इसलिए आत्मार्थी को बहुत अवधान-पूर्वक अपना मार्ग, अपनी चर्या, स्थिर करनी चाहिए। यदि ऐसा अपेक्षित प्रतीत हो कि अभी सगतिकरण आवश्यक है तो उसके एक-एक पल को जिज्ञासा की सम्पूर्ति मे लगाना चाहिए—

'अविद्याभिदुर ज्योति. पर ज्ञानमय महत्।
तत्प्रष्टव्य तदेष्टव्य तद् द्रष्टव्य मुमुक्षुभि.॥' —इष्टोपदेश, ४९

गये और आये तो बहुत

आत्मस्थिति की इस प्रक्रिया की स्थापना मे प्रश्न, एषणा आदि उपकारक हैं। आत्मा का दृढ श्रद्धान प्राप्त करने के लिए भी तो मार्गबोध चाहिए, नही तो **'चलन चलन सब कोई कहे, चलना है किस गाँव'**— यह स्थिति महान् अनर्थों का सर्जन कर देगी, क्योकि यह तो ससार है, ससरणशील है। जगत् है, गतिमय है। यहाँ उप-स्थित लोग कुछ जा रहे है। कुछ जा चुके है। 'लोकोऽय नाटच-शाला' रगमच पर कौन अधिक समयपर्यन्त टिक सका है। एतावता जाना अनिवार्य है, परन्तु कहाँ ? 'सुर नारक नर तिर्यंक् मँझार। भव

---

* 'जनेभ्यो वाक्तत स्पन्दो मनश्चित्तविभ्रमा।
भवन्ति तस्मात् ससर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत्॥'

धर धर मर्‌यो अनन्त बार ।।' गये और आये तो बहुत, परन्तु कहाँ गये, कहाँ तक गये (अतिम ग्रैवेयक लौ हद) तथा जाना कहाँ है ? यह परिज्ञान तो अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना निरुद्देश्य अन्ध भ्रमण क्या वाछनीय होगा ?

समय के दर्पण मे इस गतव्य गतिविलास का निरीक्षण करना चाहिए। जो वास्तविक गतव्य को जा चुके है, वे सिद्ध है, परमात्मा है। उन्होने मार्ग का स्वय अनुसधान किया है। उन्होने ही समीचीन पथ का बोध दिया है। उनमे कतिपय **स्वयबुद्ध** है, कतिचन **प्रत्येक बुद्ध** है और अन्य कतिचन **बोधितबुद्ध** है। भगवान् आदिनाथ को नीलाजना नामा दिव्य नर्तकी के आकस्मिक निधन से सांसारिक क्षणभंगुरता का बोध हुआ, अतः वह **प्रत्येकबुद्ध** परमात्मा है। भगवान नेमिनाथ ने पशुओ को एक स्थान पर निगडित देखा और वह विवाह-मण्डप मे न जाकर ऊर्जयन्त गिरि पर तपश्चर्यार्थं चले गये वह **बोधितबुद्ध** परमात्मा है। इसी प्रकार निमित्त के बिना भी स्वय आत्मा मे उत्कट विराग भावना समुत्पन्न होने से अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर वर्द्धमान ने निवृत्ति-मार्ग स्वीकार किया। वह **स्वयबुद्ध** सर्वज्ञ भगवान् है। इन्होने 'जाना है किस ठौर' इस प्रश्न का समाधान प्राप्त किया और विश्व को वह परम मार्ग बताया। वे नमस्थ है, नित्य प्रणम्य है।

'पत्तेयसयबुद्धा बोहियबुद्धा य होंति ते सिद्धा।
पत्तेय पत्तेयं समये समयं पणिवदामि सदा ।।' सिद्धिभक्ति, ७

—आचार्य कुन्दकुन्द

उन्होने समय को अपना बना लिया, स्वाधिकार मे ले लिया। अब समय उनकी सम्पत्ति हो गया। वे स्वय समयमय अथवा समय हो गये। समय का कालपरक अर्थ गौण हो गया और समय के समयरूप मे परमात्मा का अभिधान अन्वित होकर यशोभाजन हो उठा—'परमप्पो खलु समओ' है।

समीचीन पथ-बोध

तत्त्वज्ञान और तत्त्वज्ञानियो की इस विधि मे आकर समय ने अपने आपको पर्याप्त समुन्नत किया। वह अब कालाणुमात्र नहीं रहा जैसा कि प्रवचनसार का वचन है—

'वदिवददितो तं देस तस्सम समओ तदो परो पुव्वो।
जो अत्थो सो कालो समओ उप्पण्ण पद्धसी ॥'—२।४७

एक्को व दुगे बहुगा सखातीदा तदो अणता य।
दव्वाण च पदेसा सति हि समय त्ति कालस्य ॥'—२।२६

(आकाश के एक प्रदेश मे मन्द गमन से गति करनेवाले पुद्गल-परमाणु को जितना कुछ सूक्ष्म काल लगे तत्सम कालपदार्थ समयनाम पर्याय कहा जाता है। उस पर्याय से पर और पूर्व जो नित्य पदार्थ है, वह कालनामा पदार्थ है (२।४७), कालद्रव्य के बिना शेष पाँच द्रव्यो के निर्विभाग अशरूप प्रदेश एक, दो, बहुत, असख्यात तथा अनत सदा रहते है। कालद्रव्य का समय पर्याय रूप एक प्रदेश निश्चय कर जानना चाहिए।)

नये अर्थ की प्रतिष्ठा

समय की इस आत्मानुभूति-रसमयी परिणति पर, उसके विशिष्टार्थपरक होने पर हठात् एक धर्मसूक्ति का स्मरण हो उठा है। श्री वादिराज 'एकीभाव' स्तोत्र में मानस्तम्भ पर एक सदुक्ति का गुम्फन करते हुए कहते है कि यदि मनुष्य-भव के दुरभिमान का स्तम्भन अथवा शमन करने मे मानस्तम्भ की समर्थता है तो वह इसलिए नही है कि स्तम्भ की तु गता अधिक है किंवा उसके शिल्प मे मणि-राशियो का प्रचुरता से उपयोग किया गया है, क्योकि रत्नादि जड द्रव्य तो अन्यत्र भी पुष्कल मिल जाएँगे तथा एक मात्र ऊँचाई को ही उसका हेतु माने तो पर्वतादिका उच्छ्रय उससे कही अधिक है। अत मानस्तम्भ की रत्नमयता और तुगता मनुष्यो के लिए अभिमान-रोग-

शमन मे हेतुभूत नही है। उसमे मुख्य हेतु जिनेन्द्र भगवान् की सन्निधि है। उस सन्निधि ने ही मानस्तम्भ को मानस्तम्भत्व प्रदान किया है—

'पाषाणात्मा तदितरसमः केवल रत्नमूर्ति-
र्मानस्तम्भो भवति च परस्तादृशो रत्नवर्गः।
दृष्टिप्राप्तो हरति स कथं मानरोगं नराणां
प्रत्यासत्तिर्यदि न भवतस्तस्य तच्छक्ति हेतुः ॥'

—एकीभावस्तोत्रम्, ९

शिव और शव मे प्राणशक्ति की उपस्थिति-अनुपस्थिति का ही तो भेद है। यावत् प्राणो की विद्यमानता है तावत् यह जड, पुद्गलस्कन्ध शरीर मे शिव है और जिस क्षण इससे प्राणवियुधित हो जाती है, यह शव हो जाता है। उत्तम के सन्निधान से वस्तु मे उत्तमत्व का आविर्भाव हो जाता है। पाषाण भी प्रतिष्ठाविधि के अनन्तर देवत्व ग्रहण कर लेता है। समय शब्द के साथ परमात्मार्थ का आविर्भाव करनेवालो ने इसकी निरुक्तियो मे अनुपम सुखसवर्धक भावराशियो की सृष्टि की है।

समयो खलु णिम्मलो अप्पा

आचार्य कुन्दकुन्द ने समय का अर्थ निर्मल आत्मा (परमात्मा) किया है। रयणसार की १६३वी गाथा कि 'रत्नत्रय ही गण है, मोक्षमार्ग ही गच्छ है, गुणो का सघात ही सघ है तथा निर्मल आत्मा ही परमात्मा है*—

'रयणत्तयमेव गणं, गच्छं गमणस्स मोक्खमग्गस्स।
सघो गुणसंघाओ, समओ खलु णिम्मलो अप्पा ॥'

—रयणसार, १६३

---

* 'णाणम्हि दसणम्हि य चरणम्हि य तीसु समयसारेसु।
सक्कोदि जो ठवेदु गणमप्पाण गणधणी सो ॥'—भगवती आराधना ९१
—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप समयसार-आत्मा है। आचार्य वही है जो समयसारभूत-आत्मा मे [सघ को] स्थापित कर सके।

वस्तुत निर्मल आत्मा की प्राप्ति को ही सर्वोपरि ध्येय माननेवालो को इतर हेयद्रव्यो के समान गण, गच्छ और सघ भी अन्तत त्याज्य हैं । जहाँ निर्ग्रन्थ अवस्था अशेष ग्रन्थिविमोककारिणी हैं वहाँ निर्मल आत्मद्रव्य के अतिरिक्त कौन स्वकीय है ? गण, गच्छो का भेद लेकर उन्ही के साथ अपना अभेदान्वय रखनेवाले आत्मा में निर्मलता कैसे ला पायेगे ? क्योकि उनके आत्मा मे तो गण, गच्छ, सघ और उनके नियमादि ओतप्रोत हैं । सम्भव है, आत्मा से भी अधिक गण-गच्छादि में व्यवहार करनेवाले परसमय-निष्ठो को लक्ष्य करते हुए ही आचार्य ने उक्त पारमार्थिक नवीन निश्चयात्मिका व्याख्या की हो तथा परसमयो पर मधुर कटाक्ष किया हो ।

समय ही सामायिक

भावसामायिक का निरूपण करते हुए मूलाचार मे प्रतिपादित किया गया है कि 'सम्यग्दर्शन, ज्ञान, सयम और तपो से जीव के एकीभाव को समय कहते है, इस (इत्थलक्षण) समय को ही सामायिक समझो—

'समत्तणाणसजमतवेंहि ज ज पसत्थसमगमण ।
समय तु त तु भणिद तमेव सामाइअ जाणे ।।'—७।२३

यह समय मे स्थित होना ही सामायिक है । जो प्रतिक्षण सम्यग्-दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सयम-तपो से अपने साथ ऐक्य की प्रतीति करता है तथा परीपहो को जीतकर, दुर्लेश्या, दुर्ध्यान आदि से अबद्ध रहता हुआ आत्मध्यान मग्न है, वह सामायिकवान् है । वही वास्तविक मोक्षपथिक है । मोक्षार्थी का स्थितिकेन्द्र आत्मा, ध्येय आत्मा, अनुभवनीय आत्मा तथा विहरणीय - विचरणीय भी आत्मा । इस आत्मा से भिन्न समस्त द्रव्य श्वपचवत् अस्पृश्य । आत्मा राजा और आत्मा प्रजा । आत्मा ही राष्ट्र और आत्मा ही लोक । आत्मा ही पाचक और वही भोक्ता । आत्मा ही दृश्य और आत्मा ही दर्शक । ऐसा एकान्त प्रदेश जहाँ अन्यो का प्रवेश निषिद्ध ।

आचार्य पूज्यपाद ने समय का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ करते हुए लिखा है—'समेकीभावे वर्तते। तद् यथा सगत घृत सगत तैलमित्युच्यते एकीभूतमिति गम्यते। एकत्वेन अयन गमन समय। समय एव सामायिकम्। समय प्रयोजनमस्येति वा विगृह्य सामायिकम्।'— अर्थात् 'सम्' यह सगतिपरक शब्द है। जैसे 'सगत घृतम्' का अर्थ एकीभूत घृत है। 'सनय' शब्द का पूर्वार्द्ध यही एकीभावद्योतक 'सम' उपसर्ग है। इसका उत्तरपद 'अय' है। 'अय' का अर्थ गति, गमन है। 'समुदायो ह्यर्थवान् समुदायस्यैकदेशो निरर्थक' इस वैयाकरणोक्ति के अनुसार 'सम' और 'अय' से निष्पन्न 'समय' का अर्थ एक हो जाना है। यह एकीभाव सजातीय मे ही घटित होता है विजातीय मे नही। जैसे तिल-तण्डुलो को एकत्र करने पर भी वे पृथक्-पृथक् प्रतीत होते रहेंगे, अत आत्मद्रव्य एकाकी होने से उसका किसी इतर के साथ एकीभाव नही हो सकता। यह आत्म-पुद्गल के मिश्रण का प्रत्याख्यान ही आत्मा का समय है। इस समय की साधनावस्था सामायिक है। सामायिक ही समय-धर्म है। जितना समय समय-चिंतन (आत्मस्थिति) मे उपयोगबद्ध है उतना ही सामयिक भी कहा जा सकता है, जिसका अर्थ प्राप्तकाल है। 'समयस्तदस्य प्राप्तम्' (जैनेन्द्र व्याकरण, ३।४।६८) का तात्त्विक विमर्श यही सकेत ध्वनित करता है। अत जितना समय समय को दिया गया वह सामयिक है और सामायिक भी, किन्तु समयतन्मयता से बहिर्भूत समयोपयोग असामयिक और असामायिक ही है। श्री समन्तभद्रस्वामी ने समयज्ञ उन्हे ही माना है जो समय (आगम तथा आत्मा) को जानते है। 'समय जानति समयज्ञा' (रत्न० श्राव० ४।८) यहाँ धर्म प्रेरणा को उपोद्बलित करनेवाले करुणाशील आचार्य समय मे स्थितीकरण के लिए, यदि अधिक काल कोई न दे सके उसे अत्यल्प समय भी निकालकर सामायिक करना चाहिए, इस आशय से कहते है कि वह भी सामायिकवान् है जो अपने केशबन्ध, मुष्टिबन्ध, वस्त्रबन्ध और पर्यंकासनबन्ध परिमाण समय को भी स्वोपयोग मे स्थिर करता है। इस विलक्षण साधर्मीस्नेह के सुभाषित है—

'मूर्धरुहमुष्टिवासोबन्ध पर्यंकबन्धन चापि।
स्थानमुपवेशनं वा समय जानन्ति समयज्ञा।' —रत्न० श्राव० ४।८

'अयिकथमपिमृत्वातत्त्वकौतूहली सन्,
अनुभवभवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्त्तम्।
पृथगथ विलसत स्वसमालोक्य येन,
त्यजसिझगिति मूर्त्यासाकमेकत्वमोह ॥ —कलश २३

हे भव्य! तत्त्व की जिज्ञासा के लिए किसी प्रकार से भी मृतक अवस्था का अनुभव करते हुए भी अपने चैतन्य पुरुष को इस जड पुद्गलावच्छिन्न देह मे पृथक् देखने का प्रयत्न मुहूर्त भर के लिए ही करो। ऐसा प्रयत्न करने से अपने स्व को शरीर से अलग जानकर तत्क्षण ही तुम इस मूर्ति के साथ कल्पित अपने एकत्व मोह से मुक्त हो जाओगे।'—

"सव्वे जीवा णाणमया जो समभाव मुणेइ।
सो सामाइय जाणि फुडु जिणवर एम भणेइ॥" —योगसार, ९९

सम्पूर्ण जीव ज्ञानमय है (लब्धि-अक्षर से केवलज्ञानपर्यन्त) इस प्रकार के जो समभाव है वह सामायिक है—ऐसा जिनेन्द्र भगवान् का वचन है।

'अयनमय सम् एकत्वेन अयन गमन परिणमन समय। समय एव सामायिकम्। स्वार्थे इकण्। अथवा समय प्रयोजनमस्येति सामायिकम्। प्रयोजनार्थे इकण्। कोऽर्थ देववन्दनाया नि सक्लेश सर्वप्राणिसमता-चिंतन सामायिकमित्यर्थ —(तत्त्वार्थवृत्ति ७।२१)।'

समय शब्द के साथ इकण् प्रत्यय से स्वार्थ मे सामायिक पद सिद्ध किया गया है जिसका अर्थ हुआ 'एकरूप से परिणमन करना' यह समय ही सामायिक है। अथवा प्रयोजन अर्थ मे इकण् प्रत्यय करने पर 'समय अर्थात् एकत्वपरिणति ही जिसका प्रयोजन हो वह

सामायिक है। तात्पर्य यह कि देव वन्दना आदि काल मे विना सक्लेश के सब प्राणियो मे समता आदि का चिंतन करना सामायिक है।

'एकत्वेन गमन समय । प्रतिनियतकायवाङ्मनस्कर्मपर्यायार्थं प्रतिनिवृत्तत्वादात्मनो द्रव्यार्थेनैकत्वगमनमित्यर्थं (तत्त्वार्थ राजवार्तिक ७।२१), अर्थात् मन, वचन और काय की क्रियाओ से निवृत्त होकर एक आत्मद्रव्य मे लीन हो जाना समय है।

'अनन्ताः सामायिकसिद्धाः' इत्येतदपि त्रितयमेव साधयति। कथम्? ज्ञस्वभावस्यात्मनस्तत्त्व श्रद्दधानस्य सामायिक चारित्रोपपत्ते.। समय एकत्वमभेद इत्यनर्थान्तरम। समय एव सामायिक चारित्र सर्वसावद्यनिवृत्तिरिति अभेदेन सग्रहादिति-(राजवार्तिक ४६)।'

'सामायिक से सिद्धि प्राप्त करनेवाले सिद्ध भगवान् हुए-अनन्त है।' यह कथन भी सम्यक्त्रयी का समर्थक है, क्योकि ज्ञानदर्शनलक्षण आत्मा जव तत्त्वश्रद्धान-प्रवृत्त होता है तव उसे चारित्ररूप उपपत्ति होती है। अत समय, अभेद और एकत्व तीनो शब्द समानार्थक है। समय ही सामायिक है, चारित्र है, सर्वसावद्यनिवृत्ति है—इत्यादि अर्थ अभेद से सगृहीत है। इस आशय पर अमृतचन्द्र सूरि की एक सदुक्ति पठनीय है-

"एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिश ध्यायेच्च तं चेतति।
तस्मिन्नेव निरन्तर विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्यसारमचिरान्नित्योदय विन्दति ।।'

—समयसारकलश, २४०

इस आत्मतन्मय स्थिति को आचार्य माघनन्दी ने समयसार स्वरूप कहा है। 'समयसार स्वरूपोऽहम्'-(ध्यानसूत्र, ४५) परन्तु यह उपलब्धि नितान्त वाचिक नही है। एक असत्यभापी अपने विपय मे यदि उच्चस्वर मे अपने सत्यवक्ता होने की घोषणा करे तो वह परिचितो मे परिहास-पात्र ही होता है क्योकि वास्तविकता से अस-

स्पृष्ट शब्दो का अर्थ व्याहत हो जाता है। ऐसे पुरुषो को लक्ष्य करते हुए आचार्यों ने कहा है कि वास्तविक तत्त्वज्ञान से अपरिचित निर्मल समयसार का दर्शन नही कर पाते—

"ये त्वेन परिहृत्य सवृतिपथप्रस्थापितेनात्मना
लिंगे द्रव्यमये वहन्ति ममता तत्त्वावबोधच्युताः।
नित्योद्योतमखण्डमेकमतुलालोकं स्वभावप्रभा—
प्राग्भारं समयस्य सारममल नाद्यापि पश्यन्ति ते ॥"

—समयसार कलश, २४१

तत्त्वावबोधका यह मार्ग भिन्न है और द्रव्यलिगममकार-मीलितो का मार्ग अलग है। द्रव्यलिगी बाह्यचेतनासक्त होता है तो भाव-लिंगी अन्तश्चक्षु। समयसार की स्थिति आत्मा है और अन्यासक्त का रतिकेन्द्र पुद्गल-परिवार है। आत्मभावी ध्यानस्थ होकर सोचता है—

"नाह रामो न मे वाञ्छा भोगेष्वपि न मे मन·।
शान्त आसितुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा ॥"

—योगवासिष्ठ, १५।८

मै राम नही, भोगो मे मेरा मन नही। मै तो आत्मस्वरूप हूँ और जिनेन्द्र प्रभु के समान आत्मा मे ही स्थिति चाहता हूं, क्योकि 'राम' यह नाम तो मेरे इस पुरुषपर्याय का सकेतपद है, यह नश्वर है। इस नाम के साथ अपने सम्पर्क की भावना करना वहिर्दृष्टि है। मोह-भावना है, अहकार-प्रबोध है। 'रामोऽहम्' कहते ही सारे लौकिक दर्प उपस्थित हो जाते है कि मै राम हूँ—अयोध्यापति, रावणजेता, रक्ष सहारकारी, पितृआज्ञापालक, लोकनमस्कृत और और जाने क्या-क्या ? जितना बडा व्यक्ति उतने दीर्घ—दीर्घतर उसके विभाव-सयोग और जितने दीर्घ-दीर्घतर विभाव-सयोग उतना अधिक वन्धन, मोह, ममता तथा आर्त्त-रौद्र। इन सम्पूर्ण उपाधि-विभावो से आत्मचेतना का क्या सम्बन्ध ? 'आत्मान्य पुद्गल-

श्चान्य ' आत्मा अन्य है और पुद्गल अन्य है । पुद्गल स्थूल है, कृश है, कृष्ण है, शुक्ल है, मरणधर्मा है, क्षयी है । ये बाह्य विकल्प-रूप आत्मा मे नही है । वह इस दैन्य से बहुत ऊपर है अमर, अमृतमय, आनन्दस्वरूप, ज्ञानमय, चैतन्य । इसीलिए मुनिवृत्ति अपनाने वालो ने दिगम्बर होकर, क्षुत्पिपासादि सहन कर, अनिकेत-व्रत लेकर, इन्द्रियो का दमन कर देहको अकिचन बनाया और आत्मा को परमवैभव (मुक्ति श्री) प्रदान किया । देह अकिचन है और आत्मा परम सम्राट्—यह निर्ग्रन्थमुद्रा आत्मनिष्ठों की वह सांके-तिक भाषा है जिसमे अपरिमित आनन्द के छन्दो की सृष्टि हुई है—

आत्मा पुद्गल से भिन्न

'णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारण तेसिं ।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमता णेव कत्तीणं ॥'

—प्रवचन० २।६८

यह देह, मन, वाणी आत्मा नही है, समय नही है । न यह उनका कारण है और न कर्ता, कारयिता तथा अनुमन्ता है, क्योकि आत्मा पुद्गल से भिन्न कहा गया है । न्यायशास्त्र कहता है—'घटो न भवति पट , पटो वा न भवति घट., घट है वह पट नही होता और पट है वह घट नही होता । जब दो पुद्गल द्रव्य सहसा पर-परिणति नही करते तब विशुद्ध आत्मद्रव्य पुद्गलद्रव्यो मे परिणमन कैसे करेगा ? आत्मा के नामरूप से अतीत वैशिष्टच का ज्ञान रखनेवालो ने इसी आशय को सहस्रधा परिस्फुट करते हुए आत्मा को चिदानन्द वीतराग कहा है— 'चिदानन्दरूप नमो वीतरागम्'।

जब जीवात्मा शुद्ध निश्चयनय से पृथक् होकर व्यवहारनय मे प्रवृत्त होता है तब अपने को ' रामोऽह कृष्णोऽह स्थूलोऽह कृशोऽह पुमानह स्त्री-अह' इत्यादि कहता है परन्तु पारमार्थिक निश्चय भाषा मे अह के साथ ये पुद्गलविभाव सम्बद्ध नहीं रहते ।

जब कुम्भ का निर्माण होता है तब उसके उपादान और निमित्त कारण अपेक्षित रहते है। उस समय मिट्टी का पिण्ड, चक्र, चीवर, दण्ड, कुलाल एव सूत्र आवश्यक है, परन्तु अग्नि-पक्व होने पर घट को जब पानी भरने के प्रयोग मे लिया जाता है तब उन कुलाल-चक्रादि की अपेक्षा नही रहती। आत्मा जब अपने शुद्ध द्रव्य का चिन्तन करता है, तब वह भी अपने स्थूल नाम-रूपो की सज्ञा से अलग रहता है। आत्मचिन्तन में 'क्षत्रियकुमारो रामोऽह ध्यायामि' में क्षत्रिय पुत्र राम का ध्यान करता हूँ—ऐसा कथन सम्यक् नही है, क्योकि ध्याता आत्मा है, वह चेतन है। क्षत्रिय पुत्र वीर नाम से परिचित पिण्डात्मक देह जड है, वह ध्यान कैसे कर सकता है? अत 'आत्मा आत्मान ध्यायामि' यह कथन युक्त है—

'मृत्पिण्डदण्डचक्रादि घटो जन्मन्यपेक्षते।
उदकाहरणे तस्य तदपेक्षा न विद्यते ॥'

—श्लो० वार्ति०

जाति, लिंग, नाम, द्रव्य आदि मे समय (आत्मा) का आग्रह करनेवाले बहिरात्मा है, उन्हे मूढदृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये। आत्मप्रदेश से बाहर परिभ्रमण करते रहने से उन्हे आत्मपद मे प्रतिष्ठित होने का लाभ नही मिलता—

'जातिर्लिग विकल्पेन येषा च समयाग्रह ।
तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परम पदमात्मन ॥'—२।२

—समाधिशतक, ८९

इस परपरिणति और स्वपरिणति को शास्त्रकारो ने अनेक विधियो द्वारा समझाने का अपूर्व प्रयास किया है। जैसे मधुर पक्वान्न मे अनेक नाम-रूप जातियाँ होती है, परन्तु सबमे मिष्टत्व शर्कराजन्य ही होता है वैसे शास्त्रोपदेश के विविध सन्दर्भ अनेक वर्णन-शैली मे भिन्न प्रतीत होते हुए भी 'जीवोऽन्य पुद्गलश्चान्य' का उपबृहण-मात्र है। परिणामत स्वपरिणति श्लाघ्य है और पररति त्याज्य है।

इसे स्वसमय और परसमय नाम से निरूपित करते हुए प्रवचनसार की गाथा है—

'जे पज्जएसु णिरदा जीवा परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा ।
आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा ।।'

शास्त्र नही, शास्त्राभास

'परिणामो मे परत्व को स्व मे अध्यवसित करनेवाले परसमयिक है तथा आत्मा के शुद्ध स्वभाव में स्थित है वे स्वसमय है ।' ससारी जीवो की परसमय-रति प्राय अधिक होती है । ससार के चाकचक्य उत्पन्न करनेवाले पदार्थ उन्हे सहसा आकर्पित कर लेते है और परिणामस्वरूप ऐसे पुरुष धनपतित्व, नरपतित्व, चक्रवर्तित्व आदि लोक मे देहसुख प्रदान करनेवाले पौद्गलिक चक्रव्यूहो मे घिर जाते है । उन्हे ऐसा मति-विभ्रम होने लगता है कि देवता धन-सम्पत्ति देते है, शास्त्रो मे लौकिक सुखो का वर्णन है और गुरुदेव का पुरुषार्थ हमे ससार-सागर से पार उतारने वाली नौका है, परन्तु सत्य इससे भिन्न होता है । शास्त्रो का विषय तत्त्वज्ञान-सग्रह है, गुरुदेव मार्गोपदेष्टा है और सुखदाता अथवा दु खप्रसविता देव नही, अपने कर्म है । 'परो ददातीति विमुच शेमुपीम्'—यह सम्यग्दृष्टि की दर्शनलब्धि है । जहाँ धनादि नश्वर पदार्थो की स्तुति है, वे शास्त्र नही, शास्त्राभास है और जहाँ सुख-दु ख-प्रदाता देव बताये गये है, वह कर्म-मीमासा से अनभिज्ञ विपय देवाभास है । ऐसे गुरुदेव ही जहाँ सर्व शिष्यसमूह के लिए मोक्षाधिकार लिये हुए है वे कोई मिथ्यागुरु होगे—सम्यग्दृष्टि भव्यो को इन तीनो क्षेत्रो मे अपनी ही अमूढदृष्टि का सहयोग लेना चाहिए । पुरुषार्थसिद्धयुपाय मे चेतावनी के स्वर स्मरणीय है—

'लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे ।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्त्तव्यममूढदृष्टित्वम् ।।'—२६

कि च– 'इह जन्मनि विभवादीनमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन् ।
एकान्तवाददूषितपरसमयानपि च नाकाक्षेत ।।'

—पुरुषार्थ. २४

नय-नदियाँ

परसमय का परिज्ञान यदि परसमयनिवर्तक और स्वसमयप्रवर्तक होता है तो यह बाधक नही प्रत्युत तत्त्वज्ञान मे सहायक है। ब्रह्म को धारण करने के लिए अब्रह्म का ज्ञानपूर्वक परित्याग व्रती को ब्रह्म के मिथ्यापक्ष (अब्रह्मचर्य) से परित्राण ही प्रदान करता है, परन्तु परसमय के साथ मैत्री करना शोचनीय है, आत्मघात-सदृश है। जानने मात्र पर्यवसितवृत्ति तो सर्वज्ञ भगवान् मे भी है। वे परसमयो को तथा स्वसमय को जानते है, परन्तु तन्मयता उनकी स्वसमय मे ही है–

'जाणदि पस्सदि सव्व ववहारणयेन केवली भगव ।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाण ।।'

—नियमसार, १५८

'दव्वगुणपज्जएहिं जाणइ परसमयससमयादिविभेय ।
अप्पाण जाणइ सो सिवगइपहणायगो होइ ।।'

—रयणसार, १४४

'दोण्हवि णयाण भणिय जाणइ णवरि तु समयपडिबद्धो ।
ण दु णयपक्ख गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो ।।"

—समयसार, १४३

केवली भगवान् श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार और निश्चय-नयपक्ष को जानते अवश्य है, क्योकि सर्वज्ञ है, किन्तु सहज उल्लसित अमन्दआनन्दकल्लोलसकुल अपने अखिल ज्ञानसिन्धु मे नित्य निमग्न रहने से किसी नयपक्ष का तन्मयत्वेन ग्रहण नही करते है। क्योकि नयवाद व्यवहार है और व्यवहार परसमय है–

'जावइया वयणपहा तावइया चेव हुति णयवाया ।
जावइया णयवाया तावइया चेव हुति परसमया ।।'

—सन्मतितर्क ३।४७

इन अपरिशुद्ध नयो की परिसख्या नही है। ये तो निश्चयसिधु को प्राप्त करानेवाली नदी की सहस्र धाराएँ हैं। धाराओ से समुद्र मे पहुँचा जा सकता है, परन्तु धाराएँ समुद्र नही हो सकती। सिद्धसेन दिवाकर द्वात्रिंशद्द्वात्रिशिका मे इन नय और निश्चय का विभेद स्पष्ट करते हुए कहते है–

'उदधाविव सर्वसिन्धव समुदीर्णास्त्वयि नाथ! दृष्टय ।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधि ॥'

–४।१५

साक्षात् समयसार

निश्चय के एकान्त प्रदेश मे वीतरागभाव की अव्याहत स्थिति है। वहाँ नयपक्ष की सकल्पविकल्पचातुरी का प्रवेश निपिद्ध है। इन्हें, वहाँ पहुंचा हुआ पुरुप इन्द्रजालवत् समझता है, सिन्धु-लहरियो-सा अनुभव करता है। वह अन्तर्बहि समरस होने से इन एक देश-व्यापी परसमयो से नितान्त असस्पृष्ट रहता है। आत्मा के सम्यग्-दर्शनज्ञानरूप शुद्ध उपयोग मे स्थित रहनेवाला नयपराङ्मुख होकर साक्षात् समयसार हो जाता है। समयसार और सम्यग् दर्शन ज्ञान एकानुप्रविष्ट समानार्थी शब्द युगल है। जो समयसार है, वही सम्यग्दर्शनज्ञान है। यह समयसार केवलज्ञानादि अनन्त गुणो का पुज है। यहाँ निश्चय का एकमात्र नित्यरम्य प्रदेश है, किन्तु नयपक्ष का लेश भी नही। विकल्पो के गहन वन को पार करने पर विज्ञानघनस्वभाव इस समयसार रूप आनन्दभूमि की प्राप्ति होती है–

"कम्म बद्धमबद्ध जीवे एव तु जाण णयपक्ख।
पक्खातिक्क तो पुण भण्णदि जो सो समयसारो॥
सम्मद्दसणणाण एद लहदित्ति णवरि ववदेस।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो॥

– समयसार, १४२।१४४

आत्मा की शोभा स्व-परिणति

प्रत्येक वस्तु स्वस्वरूप मे अवस्थित शोभायमान होती है। अग्नि का दाहकत्व उसका स्वधर्म, स्वगुण होने से शोभनीय है। जल का शीतत्व-पावनत्व गुण उसकी श्लाघा है। इसी प्रकार आत्मा की शोभा उसकी स्वपरिणति अथवा मुक्तावस्था है। उत्तम-मध्यम-अधम पर्यायधारी होकर देव-मनुष्य-तिर्यक् योनियो का सह-चारित्व आत्मा के स्वाभाविक गुणो का आवरण करता है, अल्प बनाता है। आचार्यो ने समय की व्याख्या करते हुए कहा है—'समयते इति समय' अर्थात् एकीभाव से अपने गुणपर्यायो मे जो अपना परिणमन करे वह समय है। एतावता धर्म, अधर्म, आकाश, काल पुद्गल और जीव द्रव्य स्वस्वधर्मस्थिति से सुन्दरता प्राप्त करते है। यह सत्य और सुन्दर होते हुए भी जीव अनादि काल से पुद्गल के साथ साहचर्य करने से असुन्दर होकर बन्धदशा को प्राप्त हो रहा है। यह इसका परसमय है, परपरिणति है, मोक्षक्षय है ससारपरावर्तन है।

वह स्व-सुख नहीं

'एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुन्दरो लोए।
बंधकहा एयत्ते तेण विसवादिणी होइ ॥'

— समयसार, ३

एकत्व निश्चय मे प्राप्त समय सब लोक मे सुन्दर है। इस लिए एकत्व मे दूसरे के साथ बध की कथा निन्दा करानेवाली है। आशय यह है कि सामान्यतया सभी पदार्थ समय शब्द से कहे जाते है, क्योकि समय शब्द का अर्थ है—'समयते इति समय' अर्थात् एकीभाव से अपने गुण-पर्यायो को प्राप्त हुआ जो परिण-मन करे वह समय है। इसलिए धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल, और जीव द्रव्य स्वरूप लोक मे जो कुछ पदार्थ है वे सभी यद्यपि अपने द्रव्य मे अन्तर्मग्न हुए अपने अनन्त धर्मो का

स्पर्श करते है, तथापि परस्पर मे एक-दूसरे का स्पर्श नही करते। यद्यपि वे अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाह रूप स्थित है तथापि सदाकाल निश्चय से अपने स्वरूप से च्युत नही होते। अतएव विरुद्ध कार्य और अविरुद्ध कार्य (स्वभाव से विपरीत कार्य और स्वभावरूप कार्य) दोनो मे सदा सव परस्पर उपकार करते है, परन्तु निश्चय से एकत्वनिश्चय प्राप्त होने से ही सुन्दरता प्राप्त करते है। यदि वे द्रव्य अन्य द्रव्यरूप परिणमनशील हो जाएँ तो सकर-व्यतिकर आदि सभी दोष उनमे आ जाएँ। इस प्रकार सव पदार्थों का भिन्न-भिन्न एकत्व सिद्ध होने पर जीव नामक समय को बध की कथा से विसवाद की आपत्ति होती है, क्योकि वन्ध-कथा का मूल कारण पुद्गल कर्म के प्रदेशो मे स्थित रूप पर-समयता से उत्पन्न जीव मे पर-समय, स्व-समयरूप, द्विविधता आती है। अत समय का एकत्व होना ही सिद्ध होता है। साराश यह कि निश्चय से सब पदार्थ स्व-स्वभाव स्थित होने से शोभा पाते है परन्तु जीव नामक पदार्थ अनादि काल से पुद्गल कर्म के साथ बध प्राप्त है, उससे इस जीव मे विसवाद खडा होता है, इसलिए शोभा नही पाता; अत एकत्व होना इसके लिए शोभा-जनक है।

यह एकत्व-निश्चय-प्राप्त समय सब लोक मे सुन्दर है। वस्तु यथा-जात-रूप ही उसका सौदर्य होता है। परानुप्रविष्ट होने पर उसमे कृत्रिमता तथा परगुग का समावेश हो जाता है जो उसके मूल सौदर्य को सकीर्ण तथा गौण बना देता है। अपने स्वाभाविक रूपाभिजात्य का विस्मरण कर उसे परकीय गुणसन्निवेष से उत्कृष्ट मानना स्वगुण-गौरव का तिरस्कार नही तो क्या है? एक भारतीय जब अपनी मातृ-भाषा का परित्याग कर 'मेकाले' की भाषा मे गर्वानुभूति करता है, तब वह अपनी भाषा को हीन, अपने वेष को अभद्र मानकर उस परच्छन्द के साथ होने मे कथचित् अपने को सुखी मानता है। उसका वह सुख स्वसुख नही, पर सुखसकर दोषमात्र

है । पर समय को अगीकार करने से इसी स्वसमय का तिरस्कार होता है। यह उपेक्षा जीव के लिए अधोगतिकारिणी होती है।

परम वैभव की यशःपताका

इस सदर्भ में समय के तीन भेद किये जा सकते हैं– **कुसमय, सुसमय,** और **स्वसमय** । इन्हे **बहिरात्मा, अन्तरात्मा,** और **परमात्मा** भी कह सकते हैं। ये ही आत्मा के अशुभ परिणाम, शुभ परिणाम तथा शुद्ध परिणाम हैं। अशुभ परिणाम कुगतिदायी हैं तथा शुभ परिणाम सुगतिप्रद है, किन्तु मुक्ति शुद्ध परिणाम का ही परिणाम हैं। स्वतन्त्रता की प्राप्ति, आत्मतत्र पर स्वाधिकार अथवा सर्वबधराहित्य **स्वसमय** का वरदान है। जीव जब तक अशुद्ध दशाओ मे सचरण करता है तब तक विशुद्धि नही पा सकता–

'काजल की कोठरी में कितो हू सयानो जाय,
काजल की एक रेख लागी है पै लागी है' ।।

कज्जल के अगण और कज्जल की भित्तियो में वदी हुआ व्यक्ति उसकी कालिमा से कहाँ बच पाता है! जो विकृतियो की उपासना करेगा उसे विकृतियाँ मिलेंगी और जो सुकृतमार्गी होगा उसको सुकृतो की उपलब्धि से कौन वचित कर सकता है, क्योकि **'कर्माधीनमिद जगत्'** यह ससार कर्म की शलाका से लिखा हुआ चित्रपट है। यदि इस लोक में किसी का मुख वक्र-विद्रूप है तो वह कर्म-दर्पण की छाया ही है। कु और सु पद कुत्सा और प्रशसा के वाचक है तथा कुत्सा और प्रशसा के भाव नितान्त जागतिक है। इनसे ऊपर उठकर ही लोकाकाश तथा धर्मास्तिकाय की चरम सीमाओ पर स्थिर आसन लगाया जा सकता है। वह **स्थिरासन स्वसमय** की परिणति है, आत्मा के परम वैभव की यश पताका है, घोर ससारवारिधि-सन्तरण का पौरुपाभिलेख है। इसी परिणाम-त्रयी की व्याख्या मे कहा गया है–

'सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावत्ति भणियमण्णे सु ।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारण समये ।।

—प्रवचन, २।८९

अन्तिम गन्तव्य

परमागम मे पुण्य को शुभ परिणामी एव पाप को अशुभकारी बताया गया है, किंतु सर्वदु खक्षयकारी परिणाम तो आत्मा का अनन्य परिणाम ही है। जब तक जीव बहिरात्मा रहता है, उसे शान्ति नही मिलती । जैसे चलती हुई दीवार-घड़ी का पेण्डुलम भी चलता रहता है वैसे बहिरात्मा का मन भी चलायमान रहता है। चचलता की यह स्थिति तव तक बनी रहती है, जब तक बाहरी भटकावो की परिसमाप्ति नही होती और बाहरी दुष्पर्यटन का अवसान तव तक नही होता जब तक यह जीव स्वस्थित नही हो जाता । शुभ और अशुभ परिणाममय औदयिक भावो की सत्ता के रहने तक जीव सातावेदनीय तथा असातावदनीय कर्मों के वन्धयुगल से मुक्त नही हो सकता। उपशम, क्षयोपशम तथा क्षायिक भावो से ही बध की निर्जरा सम्भाव्य है । कर्मो की निर्जरा होने पर मोक्षगामी को रागद्वेप-रहित परम पारिणामिक भाव की सम्प्राप्ति होती है जो शुभाशुभ एव बधमोक्षपरिणतियो से असस्पृष्ट है। जीवात्मा का अन्तिम गन्तव्य मोक्ष है, जिसे स्वसमय कहा गया है एवं उसकी अन्तिम भावानुभूति परम-पारिणामिक भाव है, जो उसके अपने परिणाम है । यह उपलब्धि दृष्टि-भेद से सम्भव होती है। जो आत्मा तथा पुद्गल के भिन्नत्व को उनके पृथक्-पृथक् धर्मानुबध से जानता है कि आत्मा नित्य है, जड से भिन्न है तथा परद्रव्य अनित्य है, उसकी दृष्टि को सम्यक् (समीचीन) कहा गया है। यह सम्यक्त्व यथार्थग्राही और और यथास्थित का ज्ञाता है । जब तक रज्जु मे सर्प की भ्रान्ति है, इन्दु-ज्योत्स्ना मे परिलक्षित शुक्ति मे रजत-प्रत्यय है, तब तक वह दृष्टि वह ज्ञान निर्भ्रान्त नही। शरीर मे आत्मा का एकीभाव भी ऐसी ही भ्रान्ति-मूढता है जिसमे सम्यक्त्व नही ।

"णाणा धम्मेहि जुद अप्पाणं तह पर पि णिच्छयदो ।
ज जाणेदि सजोग त णाण भण्णदे समये ।।'

—कार्तिकेयाणुपेक्खा, २५३

"परदव्वं देहादि कुणइ ममत्त च जाम तस्सुवरिं ।
परसमयरदो तावं बज्झदि कम्मेहिं विविहेहि ।।"

—तत्त्वसार ३४

पिजरा मोह का, तोता परिग्रह का

इस परसमय को लाक्षणिक भाषा मे मूर्च्छा कहा गया है । मूर्च्छा विसज्ञा का नामान्तर है । जिसे सज्ञा नही, चेतना नही, वह विसज्ञ है, मूर्च्छित है । यह मूर्च्छा मोहावस्था है । सराग परिणति है । जो जितना परिग्रहानन्दी है, वह उतना ही मूर्च्छित है । प्राचीन काल मे वृद्ध नानियाँ बच्चो को किसी एक डायन की कथा सुनाया करती थी कि उस डायन के प्राण सात समुद्र पार एक महल मे पिजरे मे वन्द तोते मे है । यदि उस शुक को कोई मार दे तो वह डायन तत्क्षण मर जाएगी । मूर्च्छा भी जीव के साथ लगी हुई एक डायन है जिसके प्राण परिग्रह-रूप शुक मे अटके हुए हैं । मोह के दृढ पिजरे मे इस परिग्रह-शुक की सुरक्षा की जा रही है । ससारियो के प्राण प्राय अपने देह मे नही होते, वे इन्ही भूमि, हिरण्य परिवार आदि परिग्रहो मे होते हैं । ऐसे बहिरात्मा इस देह को ही सर्वस्व मानकर उसकी रक्षा के अचिन्त्य उपाय करते रहते हैं । यह जीव तो मुक्तावस्था से पूर्व तक वैसे ही बँधा हुआ है, किन्तु अज्ञान-विमूढ उसको परिग्रहादि मे और अधिक बाधकर रखना चाहता है । वह देह की रक्षा के उतने उद्दाम उपाय करता है, जितने कोई काच-पात्र की रक्षा मे करता है, परन्तु गिरते ही चकनाचूर हो जाने वाला काच क्या सर्वकाल मे सुरक्षित रह सकता है ?

"दृढात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मन ।
मित्रादिभिर्वियोग च बिभेति मरणाद्भृशम् ।।"

—समाधिशतक, ७६

"परमाणुपमाण वा मुच्छा देहादिसु जस्य पुणो ।
सो ण विजाणदि समय सगस्स सव्वागमधरो वि ।।"

—भावना, २०

समय का ज्ञाता तो वह है जिसने 'नाह देह' कुतो मृत्यु ' रहस्य को जान लिया है । वह कहता है—मै मोहरहित हूँ । मेरे उपयोग मे आ सके, ऐसा कोई द्रव्य इन आत्मभिन्न पदार्थों मे नही है । ये सब परभाव है—

"णत्थि मम कोवि मोहो, बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को ।
त मोहणिम्ममत्त समयस्स वियाणया विति ।।"

—समयसार २६

रागी को त्याग नही रुचता

समयोपयोग का उपशिक्षण करने वाले ये बोधिसूक्त आगम-शास्त्रो की रगावली है, शिवपथ के सर्वतोभद्र स्वस्तिक है, मुक्तिलक्ष्मी के सचार-कमल है, किन्तु क्या इतने पर भी सम्पूर्ण ससार रागपरिग्रह का परित्याग कर सका ? क्या इस अनुभव-मथित पीयूप का पान करने मे समर्थ हो सका ? क्या आज इन मुक्तिसूक्तो की रचना के पश्चात् वहिरात्माओ का अभाव हो सका ? नही, क्योकि गोक्षीर सुलभ होने पर भी लोग मद्यपान करते है, अन्न-फल मिलने पर भी अभक्ष्य-भक्षण करते है, पुण्य करने की क्षमता रखते हुए पापमग्न रहते है । समस्त हेय-उपादेय का परिज्ञान रखते हुए उपादेय का तिरस्कार तथा हेय सत्कार करते है, क्योकि उपदेश सभी को अमृत प्रतीत नही होता । रागी को त्याग नही रुचता और भोगी को योग विद्या से प्रीति नही होती । अपने औदयिक कर्मों के पाश से उन्हे छुट-कारा नही मिलता । यदि शास्त्र और तीर्थंकर सभी को समान रूप से प्रबोध दे पाते तो आज कुसमयो एव मिथ्यादृष्टियो का अस्तित्व नही रह जाता । अत आत्मकल्याणाभिलाषी को अपने गन्तव्य की

दूरी न्यून करने का प्रयत्न करना उचित है न कि लोकसुधार के स्तूप खड़े कर अपनी दिशा को भूल जाना ।*

आत्मा-ज्ञेय, ज्ञाप्य नहीं

"णाणा जीवा, णाणा कम्म, णाणाविहा हवे लद्धी ।
तह्मा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो ।।"

—नियमसार, १५६

स्वपर समयविज्ञ होकर आत्मानुचिन्तन करना श्रेयस्कर है, परन्तु स्वज्ञान की उस विशिष्ट सम्प्राप्ति को प्रवचन-कोलाहल का रूप दे देना अनावश्यक है । स्व-परसमय का ज्ञान और स्वपर समय पर वाद-कोलाहल नितान्त भिन्न वस्तु है । एक आत्मकल्याण-परक है तथा अन्य अपरसमयो को वलात् वशीकरण का वृथा प्रयास है । समाधिशतक मे यह स्पष्ट कह दिया गया है कि आत्मा ज्ञेय है, स्ववेद्य है, ज्ञाप्य नही । अतएव इसे दूसरो को ग्रहण करा सकना अशक्य है—

"यद्बोधयितुमिच्छामि तन्नाह यदह पुन ।
ग्राह्य तदपि नान्यस्य तत्किमन्यस्य बोधये ।।"

—स शतक, ५९

आवश्यकता स्व-सत्य की

आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार कलश मे जो 'स्वयमपि निभृत सन्' कहा है† उसके मूल मे भी यही हार्द है कि भगवान् आदिनाथ

* 'स्वय वस्तुस्वरूपमेव ज्ञातव्य परम्प्रति विवादो न कर्तव्य । कस्मात् । विवादे रागद्वेषोत्पत्ति र्भवति ततश्च शुद्धात्मभावना नश्यति ।' —जयसेन-तात्पर्यवृत्ति

—प्रवचनसार, २७८

† 'विरम किमपरेण कार्यकोलाहलेन,
स्वयमपि निभृत सन्पश्यषण्मासमेक ।
हृदय सरसिपुसा पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो,
ननु किमनुपलब्धिर्भाति न द्वैतमेव ।।'

—समयसार कलश, ३४

और अन्य केवलियो ने आत्मोपलब्धि की—यह इतिहास तो प्राणी ने जान लिया, परन्तु उसके मोक्षविषयक प्रकरण की चर्चामात्र तो अल नही। इससे तो श्रुतसत्य की तथा परसत्य की जानकारी हुई है, आवश्यकता तो स्वसत्य की है। भर्तृहरि ने जिस स्वानुभूत्यैकमान शान्त तेज को नमन किया है (स्वानुभूत्यैकमानाय नम शान्ताय तेजसे)— वह तो आत्मना अनुभाव्य है। उस पर विवाद न करना ही परसमयो से बचना है। वही उपलब्धि का मार्ग है। कुसमयों का विशासन करनेवाले जिनेन्द्र भगवान् के शासन से उस अनुपम सुख उपयोग के स्थान को पहचानना चाहिए—

"सिद्ध सिद्धट्ठाणं ठाणमणोवमसुहं उवगयाण ।
कुसमयविसासण सासणं जिणाण भवजिणाणं ॥"

—सन्मतितर्क, १

परसमय · अविद्या में निमग्नता

समस्त नयवाद परसमय है, व्याख्यानकोलाहल और स्वपर विवाद भी परसमय है। स्वचित्स्वभाव की भावना से अन्यत्र परिणमन परसमय है। द्रव्यात्मक एव गुणात्मक पर्यायी पदार्थो मे आत्मबुद्धि रखना परसमय है। द्रव्य और लिंग मे ममकार परसमय है। मिथ्यादृष्टि परसमय है। बहिरात्मा और अन्तरात्मा परसमय है। पुद्गल-कर्मप्रदेश स्थित होना परसमय है। अविद्या मे निमग्न रहना परसमय है। इन सम्पूर्ण परसमयो से पृथक् शुद्धनिश्चयनय के अगीकर्ता ही उस समयसार के सारवित् है—

"अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्न
ऐकाग्र्यमेव कलयन्ति सदैव ये ते।
रागादिमुक्तमनस सततं भवन्त
पश्यन्ति बन्धविधुरं समयस्यसारम्॥"

—स कलश, १२०

"जीवो चरित्तदसणणाणट्ठिउ त हि ससमय जाण ।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठिय च त जाण परसमयं ॥"

—समयसार, १।२

सुख की खोज

समयवेदी को ही कालज्ञ कहते हैं। जो 'अगा कथं वगा कथं' ऐसी परचर्चा में ही समय का अवसान कर देता है वह असमयज्ञ है, अबुध है। कालज्ञ जहाँ कर्मक्षय कर सर्वकालयज्ञ (सर्वज्ञ) हो जाता है, वहाँ अकालज्ञ कालकवलित होकर अपने को प्राप्त हुए सुयोग से भी वचित रह जाता है। समयज्ञ स्व-समय मे स्थित होने के लिए व्रत ग्रहण करता है, महाव्रती होता हे और अपनी नि सग-निरवद्यचर्या से कर्म-कश्मलविमुक्त हो श्रेय सनाथ हो जाता है—

"चित्ते कुर्वन्निरवधिसुखज्ञानदृग्वीर्यरूप
देव ! त्वा य समयनियमादादरेण स्तवीति ।
श्रेयोमार्ग स खलु सुकृती तावता पूरयित्वा
कल्याणाना भवति विषय पचधा पचितानाम् ॥"

— एकीभाव, २५

अहो ! स्वस्वभाव मे स्थित आत्मा ही ज्ञेयप्रमाण ज्ञान को एक समय में जानता है। दर्शन और ज्ञान एक समय मे आत्मा के ये ही दो उपयोग हैं। इस स्वस्वभाव मे स्थित आत्मा को ही परमात्मभाव की प्राप्ति होती है और उस परम पारिणामिक भाव में इतना अनन्त सुख है जिसे देव-मनुष्य त्रिकाल मे भी नही पा सकते किन्तु जो परमात्मा को एक समय में प्राप्त है—

"अनन्तगुणित तस्मादत्यक्ष स्वस्वभावजम् ।
एकस्मिन् समये भुंक्ते तत् सुख परमेश्वर ॥"

—ज्ञानार्णव, ६२।६८

स्वसमय मे स्थित होना अपार सुखप्रद है। सपूर्ण विश्व सुख की खोज में लगा हुआ है, परतु सुख क्या वैभव-विलास मे है ? अथवा

क्या वह विषयोपभोग मे है ? क्या वह स्वादु मिष्टान्न मे है ? क्या वह मित्र-कुटुम्बादि मे है ? यदि यहाँ सुख होता तो आदिनाथ प्रव्रज्या क्यो लेते ? नेमिनाथ ऊर्जयन्तगिरि पर क्यो तपते ? महावीर गृहस्थ क्यो न हो जाते ? कोटि-कोटि भव्यात्मा मुनीश्वरत्व क्यो स्वीकारते ? उन्होने अनुभव किया 'त्यागात् शान्ति '—त्याग से शान्ति मिलेगी। 'वैराग्यमेवाभयम्'—अभय होना है तो वैराग्य लो—चलो, दूर हो जाओ इन परसमयो से। कितने जन्मो तक उठाये फिरोगे इस परिग्रह-भार को ? शुद्ध आत्मा पर यह पुद्गल का पाश क्या शोभन है ? शान्ति की इच्छा है तो बन्धनो को झटक दो और अपने-आपमे स्थित हो जाओ।

कर्म झर जाते है

"छिन्दन् शेषानशेषान्निगलबलकलींस्तैरनन्तस्वभावै
सूक्ष्मत्वाग्र्यावगाहागुरुलघुकगुणैः क्षायिकैः शोभमान ।
अन्यैश्चान्यव्यपोहप्रवणविषयसप्राप्तिलब्धिप्रभावै—
रूर्ध्वव्रज्यास्वभावात् समयमुपगतो धाम्निसंतिष्ठतेऽग्र्ये ।।"

—सिद्धभक्ति ५

कर्ममलविमुक्त आत्मा कभी अध पतित नही होता। वह स्वभावत ऊर्ध्वगामी है। अनन्त चतुष्टय से सम्पन्न है वह। जब क्षायिक गुणो से उसके कर्म झर जाते है, तब वह अविभाज्य पुद्गल परमाणु के मदगति से एक प्रदेश सक्रमण काल परिणामरूप एक समय मे ऊर्ध्वगमन कर लोकाकाश के अग्रभाग मे स्थित होता है। धर्मास्तिकाय का अभाव होने से उससे ऊपर सिद्धात्माओ का गमन नही होता—

"अवरोधविनिर्मुक्तं लोकाग्रं समये प्रभुः ।
धर्माभावे ततोऽप्यूर्ध्वगमनं नानुमीयते ।।"

—ज्ञानार्णव, ४२।६०

अनादिकाल से आत्मा पर परपदार्थो का भार है। यह भार गुरुतर होता जाता है। जितना गुरुतर यह होता जाता है उतना

नीचे दवता जाता है। चतुर्गति परिभ्रमण इसी भार के गुरु-लघु होने का परिणाम है। यद्यपि मूलत आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्व-गतिशील है जैसा कि 'ऊर्ध्वव्रज्यास्वभावात्' इस सिद्धभक्ति-पद मे वर्णन किया गया है तथापि कर्मजुष्ट होने से पुद्गल भारायमाण यह जीवात्मा उस आत्मधर्म को मर्वथा प्राप्त नही कर पाता। देखा जाए तो पुद्गलावच्छिन्न होने से इसे नाना भवक्लेश भुगतने पडते हैं। वहुत पीटा गया है यह। जैसे डाक में छोडे गये पत्र पर मुद्रा लगानेवाला कर्मचारी ठोक कर डाकघर की मुहर लगाता है और उसे सकेतित गली-घर-गाँव पहुँचाता है वैसे परभाव के समाचारो को वहन करनेवाले आत्मा को कर्म ठोक-पीटकर यहाँ-वहाँ पहुँचा रहे है। कर्म वाचक होकर इस पर लिखे हुए परपरिणामो को पढते रहते है। जव तक यह पत्र अपने ऊपर अकित इस पराश्रयी कृष्णमपी के अभिलेखो से मुक्त नही हो जाता इसी प्रकार किसी नर, सुर, तिर्यक् नाम-पते पर पहुँचता रहेगा और अनेक डाकघरो की अनेक मुहरे इसके मुख पर लगती रहेगी। ससार परिभ्रमण की इस कथा को योगसार में वहिरात्मा का धर्म कहा है—

"मिच्छादसणमोहियउ परुअप्पा ण मुणेइ ।
सो बहिरप्पा जिण भणेउ पुण ससार भमेइ ।।" —४।७

आत्मा कैसा है

जव मनुष्य ज्ञानावरण मे मोहमूढ होता है तव असत् मे सत्-प्रतीति करने लगता है। 'श्रावणान्धो हरित पश्यति'—एक व्यक्ति श्रावण मे अन्धा हो गया। उस समय पृथ्वी हरी-भरी थी। कालान्तर में जव हरितसस्य सूख गये तव भी 'पृथ्वी कैसी है'—पूछा जाने पर वह उसे हरित ही बताता था। मिथ्या ज्ञान से दिङ्मूढो की भी यही स्थिति है। उसे पूछा जाए कि आत्मा कैसा है तो वह उसे शरीर-निरूपण द्वारा बताएगा। उपनिषदो में इसी वहिरात्मा का प्रतीकाख्यान विरोचन असुर के माध्यम से आया है। इन्द्र और

विरोचन प्रजापति की सेवा मे ज्ञानार्थ उपस्थित हुए। प्रजापति ने उपदेश किया कि जल मे देखने पर तुम्हे आत्मा दिखायी देगा। दोनो लौट आये। मार्ग मे इन्द्र ने अपना विम्ब किसी जलाशय मे देखा और यह तो नाशवान् है, विकारी है— कदाचित् आँख, नाक, कान से विहीन, विद्रूप हो सकता है अत यह विम्ब (यह देह) आत्मा नही हो सकता—यह सोचकर देवराज पुन आत्मज्ञानार्थ प्रजापति के पास लौट गये, परन्तु विरोचन असुर ने जव जल मे अपना प्रतिविम्ब देखा तो 'यह शरीर ही आत्मा है' ऐसा प्रजापति ने कहा है, मान लिया। वह प्रसन्न भाव से अपने सजातीय असुरो मे पहुँचा और 'शरीर ही आत्मा है' यह प्रजापति का उपदेश उन्हे वता दिया। इस प्रकार जिज्ञासावृत्ति के अभाव मे असुरो ने शरीर को आत्मा मान लिया। वे आज भी मरणोपरान्त शरीर रक्षण करते है और जीवित अवस्था मे 'खाओ, पियो, मौज करो' इन तीन भौतिक सूत्रो का अनुवर्तन करते है। उन भौतिकवादियो की आसुरी प्रकृति का प्रकोप युद्ध, हिसा, वैर, कलह, उन्माद, विभीषिका इत्यादि लोक-पीडक विविध रूपो मे रात्रिन्दिव व्यक्त हो रहा है, होता रहा है। **तन्दुलमत्स्य उसी आसुरी प्रकृति का प्रतीक है।** सम्पूर्ण ससार को निगलने का पापचिन्तन दारुण आसुरीभावो की देन है क्योकि ऐसे लोग भूतवादी होने से भौतिकद्रव्यो पर स्वत्वकामना रखते है। इष्टोपदेश मे इसी आशय को सुव्यक्त करते हुए कहा गया है कि यदि कर्म प्रवल है, तो वे अपने हित का (अधिकाधिक कर्मसचय का) प्रयत्न करेगे और यदि जीव वलवत्तर है, तो वह स्वहित की स्पृहा करेगा क्योकि सभी अपने स्वार्थ का पोषण करते देखे जाते है—

"कर्म कर्महिताबन्धि जीवो जीवहितस्पृह ।
स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वांछति ।।" —इष्टोपदेश, २१

इन देहात्मक दृष्टियो को यह जगत् ही एक मात्र रमणीय और विश्वास-स्थान प्रतीत होता है और इसी के लिए वे रात्रिन्दिव युद्ध और अधिकार की घोषणा करते है। 'जगद् देहात्मकदृष्टीना विश्वासो रम्यमेव वा'—स० शतक ४९।

आत्मलाभ परम लाभ

मृत्यु के तत्काल पश्चात् जहाँ शरीर विकृत, गलित, दुर्गन्धित होना आरम्भ कर देता है जिसे जल-प्रवाहित करने, काकादि के भक्षणार्थ अनावृत प्रदेश मे छोड देने अथवा अग्निसमर्पित करने से अन्यत्र कोई उपाय नही है उसे भी ये देहवादी अनन्त काल पर्यन्त सुरक्षित रखने के लिए यत्नशील देखे जाते है, मानो, इसी पृथ्वी पर उनका मरणोत्तर अस्तित्व बनाये रखना चाहते हो। यही अज्ञानोपासना है। भारतीय मनीषियो का चिन्तन इससे भिन्न ही नही, विशिष्ट भी है। वे देहत्याग से पूर्व ही यह भावना रखते है कि "यह शरीर मिट्टी है इसके द्वारा कृत-सुकृत ही प्रयोजनीय है, "अथ भस्मान्त शरीरम्। कृत स्मर"—जगद्व्यापार को वे इन्द्रजाल समझते है। आत्मलाभ को परम लाभ मानते है तथा अन्यत्र परिणति होने पर अनुताप का अनुभव करते है। उपनिषदो मे वर्णित नचिकेता एक वालक है और आत्मज्ञान के लिए यम से जिज्ञासा करता है। यम द्वारा लौकिक प्रलोभन के वरदान लेने का आग्रह करने पर वह कहता है।

मुझे वही चाहिये

"श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणा जरयन्ति तेज ।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥"

—कठोपनि० २६

हे यमराज! ये वैभव भोग अनित्य हैं। आज है, कल नही। ये सम्पूर्ण इन्द्रियो को तेजोहरण कर लेते है और मनष्य को जीर्ण कर देते हैं। यह जीवन भी अल्प है, अत सासारिक प्रलोभन ये रथ-गज-वाजि और ये नृत्य-गीत आप अपने पास रखे। आगे नचिकेता ने कहा—'वरस्तु मे वरणीय स एव'—मुझे तो वही (आत्मप्राप्ति विषयक) वरदान चाहिए। यह असाधारण कथा है। भारतीय वालक भी तत्त्व-जिज्ञासा रखता है, उसके लिए मृत्यु के द्वार पर निर्भय होकर चला जाता है और भौतिक प्रलोभन दिये जाने पर अनुतप्त होकर कहता हैं—'इन भोगविभ्रमो को अपने पास रक्खो।'

लहसुन का खेत, कपूर की बाड़

"निशामयति निःशेषमिन्द्रजालोपम जगत् ।
स्पृहयात्मलाभाय गत्वान्यत्रानुतप्यते ॥"— नैश २९

परन्तु जिनके दुष्कर्मों का अन्त नही, उन्हे वारवार यह ससार ही सार प्रतीत होता हे । वे आत्मा की उपेक्षा और शरीर-सखो की अपेक्षा रखते है । मानो, अमूल्य मणि का विस्मरण कर काच पर रति करते है, लहशुन के खेत को कपूर की वाड (वृत्ति) लगाते है। बदरी फल के लिए आम्रवन का उच्छेद करते है।

अन्यथा दर्शन

"तादात्म्य तनुभिः सदानुभवनं पाकस्य दुष्कर्मणो
व्यापारः समय प्रति प्रकृतिभिर्गाढं स्वय बन्धनम् ।
निद्रा विश्रमण मृते प्रतिभयं शश्वन्मृतिश्च ध्रुवं
जन्मिन् ! जन्मनि ते तथापि रमसे तत्रैव चित्र महत् ॥"
—आत्मानु० ५८

आचार्य ने कितना साधु प्रबोध दिया ! इन शरीरो के साथ किस अनन्यता से लोग सश्लिष्ट हो रहे है । यह शरीर बार-बार उन्हें छोड़ रहा है और कर्मवद्ध जीव रो-रोकर उसके वियोग मे आतुर हो रहा है, उसे पुन पुन आमत्रण दे रहा है । रोग, जरा और आयु क्षय पीडित कर रहे है तथापि माधुर्यमिश्रित इन विष-गुटिकाओ का आस्वादन करने के लिए जीव लालायित हो रहा है। अहो ! इस मोह का, अज्ञान का अन्त नही । उन्हे आस्रवो का आना रुचिकर लगता है । कपायो की तीव्रता से प्रसन्नता होती है । सवर के पाठ और निर्जरा के अध्याय मिथ्या भासित होते है। आगमस्वाध्याय, देवदर्शन, साधुसगति अप्रयोजनीय लगती है, क्योकि सर्पदष्ट को निम्ब का कटुकत्व भी मधुर लगता है और पाण्डुरोगी को श्वेत पुष्प भी पीत प्रतीत होता है । जिन्हें सम्यक्दृष्टि नही है वे वस्तु के स्वरूप का अन्यथा दर्शन करते है । वे परसमय को

स्वसमय और स्वसमय को परसमय समझते है। स्वय शीर्षासन किये हुए है और दूसरो को उल्टा टका हुआ बताते है। 'धिग् व्यापक तम'।

स्व-समय : आँख की आँख

जीवन का सार समय है और समय का सार स्वसमय। वाणी का उपयोग समय का व्याख्यान है, श्रोत्र की सफलता समय-विपयक श्रुति है, नेत्रो का दृष्टिमत्त्व समय का सम्यग्दर्शन है। वह प्राणो का प्राण है, हृदय का हृदय है, चक्षु का चक्षु है, नरकान्धकूप-पतन से निवारण करनेवाला ह, स्वर्ग के लिए मणि-सोपान है और निर्वाण-वीथि का दीपक है। सामायिक उसी का ध्यान है, उसी की अन्त स्थिति से, अनुचिन्तन और चर्वण से सामायिक सामायिक है। प्रमाद, मूर्च्छा, विभावपरिणति, कर्मस्नेह इत्यादि महारोगो की वह महौषध है। अनादि कर्मों की महाश्रृखला को तोडने मे महागज, दिग्भ्रम से समार-कान्तार में भटकनेवालो को रत्नदीप और मूर्च्छितो का सजीवन यह स्वसमय है। जो समय का चिन्तन करने के लिए सामायिक-मग्न रहता है तथा प्रतिक्षण सामायिक करते हुए समय-निष्ठ रहता है, वह स्वसमय को प्राप्त करता है। समय मे स्थिति करना ही तो सामायिक है। यह स्वसमय विषापहार स्तोत्र है, कल्याण मदिर है, यही महावीराष्टक है, स्वयम्भूस्तोत्र है। स्तुति स्तवनीय तथा स्तोता समय ही है। समय ही समय की सहायता से समय मे स्थित हो रहा है। ऐसा यह समय स्वद्रव्य आत्मा ही है।

स्वात्म योग–मोक्ष

वाद, शास्त्रार्थ, तर्क, युक्ति तथा स्थापनाक्षरो मे समय नही है वह तो लब्धि-अक्षरो मे है। जैसे नदी के उस पार पहँचने के लिए नौका का आश्रय लिया जाता है वहाँ पहुँचकर नौका को कोई नही पूछता, कोई उसे मस्तक पर उठा कर नही घूमता, वैसे शास्त्रो के स्थापनात्मक अक्षर है। इनमे भेदविज्ञान का परिज्ञान प्रयोजनीय है वे अक्षर, अध्याय, श्लोक-सख्या लब्धिवेदी से नीचे ही रह जाते है।

जैसे 'दण्डी पुरुष' मे दण्ड पुरुष का स्वलक्षण नही है, वैसे समयसार के लिए ग्रन्थसमयसार स्वलक्षण नही है। उसका स्वलक्षण तो उपयोग है, चित् स्वभाव है। वहाँ अन्ययोग बन्धन है, स्वात्मयोग मोक्ष है—

"चित्स्वभावभरभावितभावाभावभावपरमार्थतयैकम् ।
बन्धपद्धतिमपास्य समस्तां चेतये समयसारमपारम् ।।"

—कलश, ९२

पर तो पर ही है

यदि नरकादि बन्ध अभीप्सित है, तो वहिरात्मा रहो। यदि च स्वर्ग-सुखो मे रति है तो अन्तरात्मा बनो, किन्तु यदि अनन्त सुख की अभिलाषा है, तो परमात्मतत्त्व मे लक्ष्य रक्खो। सम्पूर्ण प्राप्तव्यो का परम प्राप्य बोधिलाभ है, लब्धि-सुख है। पर तो पर ही है। उस परत्व की अनुभूति शत वर्ष पश्चात् तो सभी को प्राय होती देखी जाती है, इससे पूर्व हो जाए तो उससे लाभ उठाया जा सकता है। यह मनुष्य-भव इस सिद्धि मे सहायक है। ध्यान, धारणा, समाधि द्वारा मानव ही उस स्वात्मपरिणाम को प्राप्त कर सकता है। यदि इस भव मे भी स्खलित हो गये, चूक गये, तो फिर गये पतन के पारावार मे जहाँ से ढूढ निकालना अति दुष्कर है।

उसका जन्म व्यर्थ हुआ

"परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा तत सुखम् ।
अत एव महात्मानस्तन्निमित्त कृतोद्यमाः ।।
इतश्चिन्तामणिर्दिव्य इतः पिण्याकखण्डकम् ।
ध्यानेन चेदुभौ लभ्ये क्वाद्रियन्ता विवेकिनः ।।"

—इष्टोपदेश ४५, २०

यदि काच और चिन्तामणि श्रम के पुरस्कार है तो कौन ऐसा विवेक-विधुर होगा जो श्रम भी करे और काच लेना चाहे। चिन्तामणि की तुलना मे काच की गणना ही क्या ? मनुष्य-भव प्राप्त कर यदि विषयादि काच-खण्डो को ही सगृहीत करते रहे तथा आत्म-

चिन्तामणि की प्राप्तिचिन्ता नही की, समय को नही पाया तो 'निरर्थक जन्म गत नलिन्या यया न दृष्ट किल भानुबिम्बम्' उस कमलिनी का जन्म व्यर्थ ही गया जिसने कभी सूर्य को नही देखा। और सर्वज्ञ भगवान् के समय को जिसने नही सुना उस मनुष्य का जन्म ?

राजमार्ग से चलो

> **"मानुष्य विफल वदन्ति हृदय व्यर्थ वृथा श्रोत्रयो
> निर्माण गुणदोषभेदकलना तेषामसम्भाविनीम् ।
> दुर्वार नरकान्धकूपपतन मुक्ति बुधा दुर्लभा ।
> सार्वज्ञ समयो दयारसमयो येषा न कर्णातिथि ॥"**

—सूक्ति मुक्तावली १८

अत नयकी लघु वीथियो से नही शुद्ध निश्चय के राजमार्ग से चलो । नित्य शुद्ध क्षायिक दृष्टि रक्खो, अपने मे ही तन्मय रहो । परमात्मा भी व्यवहारनय से सर्वज्ञ है, निश्चयनय से तो आत्मज्ञ ही है। उस आत्मज्ञान की प्राप्ति मे जितनी दूरी है, उसे पुरुषार्थ द्वारा समाप्त करो । नयो की नदियो में तैर चुके, अव शुद्ध निश्चय के समुद्र मे अवगाहन करो । निर्वाण पाना है तो स्वभाव मे स्थित होकर अपने को जानो, अपने को देखो, अपने से प्रेम करो । केवली भगवान् ने वह मार्ग दिखाया है, मुनियो और ज्ञानियो ने उस पथ का अनुसरण किया है, गणधर देवो ने उसका आगमिक निरूपण किया है, उस पर चलो। बोधिलाभ के लिए देव, गुरु, शास्त्र के भक्त रहो, ससार-भोगो पर हेय दृष्टि धारण करो और रत्नत्रयसयुक्त महाव्रती बनो । देखो, शिवसुख तुम्हारे समीप है, तुम्हारी अपनी आत्मा मे उसकी विद्यमानता प्रतीत हो रही है—

> **"परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी ।
> तह्मि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥"**

—समयसार, १५१

"दवगुरु समयभत्ता ससारसरीरभोगपरिचत्ता।
रयणत्तयसजुत्ता ते मणुव सिवसुहं पत्ता* ।।"

—रयणसार, ९

महाकवि रत्नाकर ने पुद्गल और आत्मा के भिन्नत्व का प्रतिपादन करते हुए वर्णन किया है कि 'शब्दोच्चारण, जिह्वा-दन्त-ओष्ठ आदि उसके साधन, श्रोत्र तथा स्नेह-कोप और यह देह सब पुद्गल है। चिदम्बर पुरुष इनसे भिन्न है।

परमात्मरूप की शरण

"नुडिवुदु पुद्गल केळुवदु पुद्गल
कडेगे पुद्गल स्नेहकोपा।
जडदेहनु कि नन्नेदेयोळिरय्या
बानोला चिदम्बरपुरुष ।।" —रत्नाकर, ९९

हे सर्वज्ञ देव! शुद्धचिन्मय परमात्मन्! अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त वीर्य को प्राप्त करने का साधन आपने स्वानुभूति से स्वसमय को बताया है। हे वीतराग! आपका निरूपित-प्रज्ञापित सत्य त्रिकालाबाधित प्रमाण है। हे प्रभो! गति के लिए मार्ग चाहिए, मार्ग को प्रशस्त करने के लिए नेता चाहिए और उसका मार्गदर्शन भ्रम-मुक्त होना चाहिए। कदाचित् मार्गदर्शक स्वय ही पथ-भ्रान्त हो तो अनुगामियो को भी सकटो एव बाधाओ का साम्मुख्य करना पडेगा, अत जिस किसी को अग्रगामी नही माना जा सकता। आपके मार्ग पर मेरी सुश्रद्धा है, क्योकि आपको तीर्थंकर होने का लोभ नही, कही किसी से राग नही, द्वेष नही। आपके निर्मल आत्मस्वरूप को छत्र, चामर अष्टसिद्धि तथा नवनिधियो की अपेक्षा नही। वह यथाजात सुन्दर है, लब्धिरमणीय है। उसकी

*'समय यदि जानीते श्रेयोज्ञात ध्रुव भवति'– (रत्नकरण्ड श्रा० ५।२७) यदि समय आगम जानीते आगमज्ञो यदि भवति तदा ध्रुव निश्चयेन श्रेयोज्ञाता उत्कृष्ट ज्ञाता स भवति।—यदि आगम मे विज्ञता प्राप्त करता है तो वह विज्ञ निश्चयेन श्रेय का ज्ञाता होता है।

चारु आभा ने सूर्यादि के तेज को अ[illegible] कर दिया है। आपका मार्गदर्शन निश्चयेन निर्भ्रान्त है, शिवपुरप्रापक है।* आप ही आप्त हैं, सम्पूर्ण प्राप्यो को प्राप्त कर चुके हैं। अब कुछ भी पाना आपके लिए शेष नही। आप ही समय हैं, स्वसमय हैं, परमात्मा हैं। 'अन्यो न मम शरण, शरण स एव परमात्मा'—इस भावना के साथ मैं अपने आत्मा के अनन्तशक्तिपुंजस्वरूप परमात्मरूप की शरण ग्रहण करता हूं—

"अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै
रयमिह परमार्थश्चेत्यता नित्यमेकः।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रान्
न खलु समयसारादुत्तर किंचिदस्ति॥" —स० कलश, २४४

"दिट्ठे तुमम्मि जिणवर! समयामयसायरे गहीरम्मि।
रायाइदोसकलुसे देवे को मण्णइ सयाणो॥"
—पद्मनन्दिपचविंशतिका, १४

मर्मच्छेदकारी दिव्यायुध

रसाल फल को प्राप्त करने के लिए आम्रवन मे जाना होगा, चम्पा की सुवास उसके पुष्प मे है कण्टको मे नही, पाटल (गुलाब) के शूल स्पर्श करनेवालो को उलझा देते हैं परन्तु सुरभि नही दे पाते। मृगनाभि का सौरभ यदि घास मे होता तो हरिण को अन्वेषण करने पर मिल जाता। वास्तव मे भ्रम के वशीभूत होकर अन्धवत् इतस्तत पर्यटन करने से निर्भ्रान्ति सत्य की अवाप्ति नही होती। सत्य तो सत्य मे ही मिलेगा। तैल की प्राप्ति चाहनेवाला तुप नही कूटता, क्योकि तुष और मुसल तैल-प्राप्ति मे न निमित्त हैं, न उपादान। अत समय की अपेक्षा रखनेवाले समय-भिन्न द्रव्यो मे तत्पर नही होते। उनका प्रयत्न

*हे प्रभो! जिनेन्द्रदेव! वह रागादिदोप मुक्त सकल और निकल परमात्मा जिन, अर्हन् और सिद्ध आप ही हैं। आप ही गम्भीर-अगाध समयामृत-सागर हैं। रागरहित प्ररूपणा करने से आप ही सत्यमार्गोपदेष्टा हैं। कौन ऐसा सज्ञान होगा जो यह जानकर भी रागपरामृष्ट इतर देवो की मान्यता मानेगा?

अनिष्ट-निवृत्ति और इष्ट-सम्प्राप्ति के लिए अहर्निश प्रक्रान्त रहता है। सम्यग् दर्शनज्ञानचारित्र रूप त्रिशूल ही वह दिव्यायुध है जो आत्मा का परमास्त्र है और परद्रव्यो का मर्मच्छेदकारी है। यह समाधि-मित्र है, इष्टयोजक है और अनिष्टवियोजक भी है। आचार्य समन्तभद्र जब 'स्वदोपमूल स्वसमाधितेजसा निनाय यो निर्दयभस्मसात्क्रियाम्'—कहते हुए आदिजिनेश्वर के निर्मल स्वरूप का व्याख्यान करते है तब उनका आशय भगवान् के उसी आत्मस्थभाव से है, जिसमें कर्मकश्मल-दहन का सर्वातिशायी सामर्थ्य है और जिसको उद्देश्य कर 'ध्यानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते'—कहा गया है। ये सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्र आत्मा के त्रिभग है, उसके उपयोग-विवर्त है। स्व-रूप इनका आराध्य एव समीक्ष्य है। इस स्वरूपावस्थान नित्यता से विभाव रूपो मे उपेक्षा एव अनासक्ति आती है और अकिंचन परभाव आत्मा की इस स्वरूपस्थिति रूप उपेक्षा से ही म्लान, शीर्ण और मृत हो जाते है। आस्रवनिरोध का तथा कर्मनिर्जरा का यह अद्भुत प्रकार है कि जैसे-जैसे साधक स्व-भाव को उज्जीवित करता है उसके परभाव स्वय समाप्त, मृत होते जाते है। यह बुद्धिमानो का मार्ग है जिसमे चलते हुए वे इष्टानिष्ट सयोगवियोगता को एक क्रिया द्वारा निष्पन्न करते हुए शोभा पाते है। उनकी 'एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा'—एक ही क्रिया दो प्रयोजनो की साधिका होती है। जेसे भुक्त अन्न क्षुधा-निवृत्ति करता है और तृप्तिकारक भी होता है वैसे स्व-समय मे स्थितिबन्ध परसमय निवर्तन मे भी प्रभविष्णु होता है, इससे आस्रव स्वत खण्डित हो जाते है।

'सम्यग्दर्शनं णाणं चारित्तं सुद्धात्मनं।
स्वस्वरूपच आराध्यं त्रिभगीसमयखंडनं ॥"—त्रिभगीसार, २४८

इसी निर्विकल्प आत्मोपयोग को 'साक्षात्समयसार' निर्दिष्ट करते हुए समयसार मे आचार्य अमृतचन्द्र कहते है 'सकलविकल्पातिक्रान्तः स्वयं निर्विकल्पैकविज्ञानघनस्वभावो भूत्वा साक्षात्समयसारः सम्भवति।'—१४२

अर्थात् जीवन को कर्मबन्ध हुआ है अथवा नही हुआ है, यह कहना तो विकल्पगोष्ठी के मित्र नयपक्षका पक्ष है वस्तुत निश्चय मे तो नयो का प्रवेश अविहित है। निम्न गाथा मे इसी नयातिक्रान्त निश्चयरुढ साक्षात्समयसारका सारोपदेश है–

"कम्म बद्धमबद्ध जीवे एव तु जाण णयपक्ख।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ।।"

कार्यकारण भाव सम्बन्ध

'आत्मन शुद्धभावेन गलत्येत् पुराकृतम्'–(जम्बस्वामि चरित १३।१२७)–आत्मा के शुद्ध भाव से पूर्वकृत आस्रव गल जाते है–यह कहना वैसा ही है जैसा वसन्त-आगमन मे वृक्षो पर नवीन पल्लव आविर्भूत हो जाते है। नवीन पत्र आने से पूर्व जीर्ण पत्र क्षय स्वय हो जाता है। अपना उपयोग मोक्ष की ओर लगाओ, वन्ध विगलित होते जाएगे। जव एक व्यक्ति पूर्व की ओर अभिमुख होकर यात्रा करता है तव उसमे पश्चिम स्वत दूर-दूरतर होता जाता है। उसे पूर्व की निकटता के लिए जो यत्न करना पडता है वही उसे पश्चिम से अयत्न दूर ले जाता है। जव दधिमन्थन की एक रज्जु पीछे खिचनी है तव दूसरे हाथ की रज्जु स्वय आगे हो जाती है। 'करणविगमत कार्यनाश-प्रसिद्धि' कारण का नाश होने पर कार्यनाश अवश्य हो जाता है, यह प्रसिद्ध न्याय है। भावसवर और भावनिर्जरा को समझाते हुए अध्यात्मकमल मार्तण्ड मे वताया गया है कि 'भावास्रवनिरोध भावसवर है तथा आत्मा और शरीर के भेदज्ञान से सम्पद्यमान स्वोपलब्धि भाव-निर्जरा है। सचित और आगामी वन्धकारणभूत कर्मका अभाव होने' पर ससार का अभाव स्वत हो जाएगा। यही कार्यकारण भाव सम्वन्ध न्याय है–

"त्यागो भावास्रवाणा जिनवरगदित सवरो भावसज्ञो।
भेदज्ञानाच्च स स्यात् स्वसमयवपुषस्तारतम्य कथचित्।
सा शुद्धात्मोपलब्धि स्वसमयवपुषो निर्जरा भावसज्ञा
नाम्ना भेदोऽनयो स्यात् करणविगमतः कार्यनाशप्रसिद्धे.।"

—अध्या कमलमार्तण्ड, ९

"येनांशेन कषायाणां निग्रह· स्यात् सुदृष्टिनाम् ।
तेनाशेन प्रयुज्येत सवरो भावसज्ञक· ।
आत्मनः शुद्धभावेन गलत्येतत् पुराकृतम् ।
वेगाद् भुक्तरस कर्म सा भवेद् भावनिर्जरा ।"

—जम्बुस्वामिचरित, १३।१२३, १२७

विषयो की शिविका उठाये चलता है

चतुष्पथ पर खडा राजपुरुष हाथ के सकेत के मार्ग वताता है तथा रोकता भी है । आगमशास्त्र हेय और उपादेय के दो हाथ उठाकर असन्मार्ग से रोकते भी हैं तथा सन्मार्ग पर चलने की अनुमति भी देते हैं। उन्होने परसमयो की रति का परिणाम और स्वसमय निष्ठाका उदर्क नि सगभाव से समझाने का सहस्रमुखी सुयत्न किया है। चिक्कणता से मलिनता आती है और रूक्षता (सावुन आदि) से वह दूर हो जाती है, यह जानकर वुद्धिमान नि स्नेह होने का प्रयत्न करता है और रागाशयी स्वय मालिन्य को आमन्त्रित करता है। वालक अज्ञानवश मिट्टी खाता है और मन्द वुद्धि इन मिट्टी समान अशुभ आस्रवो मे स्वादुता का अनुभव कर अतिकठिन वन्धनो को पुकार-पुकार कर अपना आरोहण देता है। विषयो की शिविका को कन्धे पर उठाये चलता है, राग की नगरी मे फेरी लगाता है। यह वन्धहेतु है। मिथ्यात्व का सग्रह एक दिन उसे ले डूवता है, आस्रवो के योजनमुख नक्र उसे उदरस्थ कर लेते है। उस दिङमूढ को प्रति समय नये-नये कर्म अतिथि होते रहते हैं। वह वन्धन शृखलाओ को अलकार समझ धारण करता रहता है और अपनी इस दयनीय अवस्था को अभिमान के साथ वैभव कहकर व्यक्त करता है। विभावो को वैभव मानने वालो का व्यामोह क्या हास्यास्पद नही है? आत्मा को दीन वनाकर पुद्गल को पीन वनाने वाले त्यागवृत्ति के कोपीन को सदा हीन समझते आये है। पिंजरे का पक्षी उन्मुक्त गगन मे सचार करनेवाले विहगम की अनगारता पर, उपहास के स्वर उठाता है। अपनी विपन्नता को सम्पन्नता और अपने रोग को भोग कहता है—

"मिथ्यात्वाद्यात्मभावा प्रथम समय एवास्रवे हेतव स्यु:
पश्चात्तत्कर्मबन्ध प्रतिसमसमये तौ भवेता कथचित्।
नव्याना कर्मणामागमनमिति तदात्वे हि नाम्नास्रवः स्यात्
आयत्या स्यात् सबन्ध स्थितिमितिलयपर्यंन्तमेषोऽनयोर्मित् ।।'

—अध्यात्मकमलमार्तण्ड ४।४

हे जीवात्मन्! अनादिकाल से आस्रवो के साथ घनिष्ठ मित्रभाव रहा है तुम्हारा। इनके छन्द आपात रमणीय है, ऊपरी दृष्टि से देखने वाले वहिरात्माओ को वे वहुत प्रिय लगते है, परन्तु वहिर्मनोरम होने मात्र से उसका अन्त प्रच्छन्न विष अमृतपरिणामी नही हो जाता। वैसे धतूरे का पुष्प भी तो सुन्दर पीत वर्ण होता है और अपने सुवर्ण (सुन्दर वर्ण) के कारण कनक पुष्प कहा जाता है, परन्तु क्या रूप-सादृश्य से उसमे गुणसाम्य भी सभव हुआ है? एतावता स्वच्छन्द रमणीय प्रतीति मे एक अन्य हेतु भी है, वह यह कि जव कोई किसी के प्रथम सम्पर्क मे आत। है तव उसका कटुकत्व अथवा मधुरत्व जितना स्पष्ट प्रतीत होता है उतना वेलान्तर मे नही होता प्रथम वार प्रकाश से अन्धकाराच्छन्न प्रकोष्ठ मे प्रवेश करने पर वह तिमिर अतिसान्द्र प्रतीत होता है, परन्तु कुछ क्षण के पश्चात् नेत्र उस अन्धकार मे भी कुछ देख पाने मे समर्थ हो उठते है, इस प्रकार प्रथम दृष्टि मे जो अमित्रवत् था वही तिमिर इतर क्षणो मे मित्रवत् हो जाता है और उसमे प्रथम क्षण जैसी तीक्ष्ण विरोधानुभूति नही रह जाती। आस्रवो का मित्रत्व भी कुछ ऐसा ही है। अनादिकाल से मृग-सिह के समान इनका सहचारित्व रहा है। जैसे मृग और सिह का अन्योन्य सम्वन्ध भक्ष्य-भक्षक-भावपरक है तथापि दोनो एक ही वन-प्रदेश मे निवास करते है और समय-कुसमय पाकर सिह हरिण का आखेट करता रहता है, वैसे ही जीव और आस्रवो का सम्वन्ध है। आस्रवो के अनादि आक्रमणो ने जीवन को जर्जर कर दिया है। यह जीव जहाँ जाता है, आस्रव पक्व फल के समान उसमे लोभ उत्पन्न करने वही

पहुँच जाते हैं। जैसे-जैसे यह जीव इन फलो का आस्वाद करता है उनके विपाक्त परिणाम का लक्ष्य बन जाता है। चिरकाल का सामीप्य अनुभव करते रहने से जीव इतना अधिक प्रमत्त अथवा असावधान हो उठा है कि वह आस्रवो के दु ख जनकत्व को लक्ष्य नही कर पाता। वह उन्हे सहज स्नेह से ग्रहण करता है और नाना व्याधियो का पात्र बन जाता है। यहाँ चुम्बक-लौह का दृष्टान्त उपयोगी रहेगा। चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींचता है क्योकि वह उसका सजातीय है; परन्तु आश्चर्य होता है कि पुद्गल जीव को अपनी ओर खीचते है, आश्चर्य इसलिए कि पुद्गल जीव के सजातीय नही है। इस दृष्टि-विमर्श से कहना होगा कि पुद्गल चुम्बक से अधिक सक्रमणशील है। एतावता जीव जब पुद्गल प्रदेशो मे रतिभाव करता है तब मलिन परिणामो को ही प्राप्त करता है। यह उसका कुसगति-समुत्पन्न दोष है। इस कुसगति का सदोष प्रभाव कभी-कभी इतना बढ जाता है कि जीव अपनी भिन्नता को ही विस्मृत कर बैठता है, उसे अपना जातिस्मरण भी नही रह पाता। एक कथा है कि कोई सिहशिशु मातृवियुक्त होकर किसी शृगाली के शावको के साथ रहने लगा और उस शृगाली को ही जननी मानकर उसका स्तन्य पीने लगा। कालान्तर मे एक समय जब वह अपने कल्पित बन्धुओ के साथ किसी जलाशय मे पानी पी रहा था उसने अपना प्रतिबिम्ब देखा और भिन्नता का स्वत बोध प्राप्त किया कि मै शृगाल नही हूँ, सिह हूँ। यह भेद-प्रतीति होते ही उसने हुकार किया। उस सिह-गर्जना को सुनकर सम्पूर्ण वनप्रान्तर स्तब्ध हो गया। ऐसी ही कुछ, विजातीय मे साजात्य-अनुभूति इस जीव को हो जाती है जब यह परभावो की अभेद्यस्निग्धता मे अपना एकीभाव अनुभव करने लगता है। 'अध्यात्मकमलमार्तण्ड' में इस अवस्था को मोहस्थिति कहा है। यह मोह ससार-वृक्ष को सिचित करता है, उसे हरा रखता है, सूखने नही देता। तत्त्वज्ञान का विलोपक तथा सम्यग् दर्शनादि से च्युत करनेवाला है; किं बहुना, सम्पूर्ण अनर्थो का प्रसविता पिता है।

सम्यक्त्व-सूर्योदय

> "मोह सन्तानवर्ती भववनजलदो द्रव्यकर्मौघहेतु
> स्तत्त्वज्ञानघ्नमूर्तिर्वमनमिव खलु श्रद्धधान न तत्त्वे।
> मोहमोक्षप्रयुक्ता दृगवमयुतात् सच्चरित्राच्च्युतिश्च
> गच्छत्वध्यात्मकजद्युमणिपरपरिख्यापनान्मेचितोऽस्तम्॥"

यह मोह मेचितभाव है, अन्धकार है। अध्यात्म सूर्योदय से इसका अस्तमन होता है। अन्धकार मे भेद-प्रतीति का विलोप होना सहज है। किसी प्रकोष्ठ मे अनेक वस्तुएँ रक्खी हैं, किन्तु अन्धकार मे वे दृष्टि-गोचर नही होती। इतना ही नही, वे भिन्न-भिन्न भी प्रतीत नही होती। प्रकाश मे उन्हे पृथक्-पृथक् देखा जा सकता है। एतावता प्रकाश ही भेदज्ञान मे सहायक है। सम्यक्त्व-सूर्योदय उसी प्रकाश का प्रदाता है। इस शुद्धचिन्मात्रमूर्ति आत्मा की परम विशुद्धि इस मेचित से पृथक् होने मे है। यह पार्थक्य शाब्दिक नही, तात्त्विक होना चाहिए। शाब्दिक स्थितिपर्यन्त तो यह शुकपाठ है। जैसे कोई अमृतघट का मुख खोले बिना 'अहो! यह अमृत है'—कहता रहे, उसका स्वाद-ग्रहण न करे, वैसे गाथाओ को कण्ठस्थ कर अपने को चिन्मात्र कहनेवाला अथवा सरागपरिणति का त्याग किये बिना 'अहं ब्रह्मास्मि' का तारस्वर मे चीत्कार करनेवाला अनुभवरहित परम्परापाठी मात्र है। मन मे भुक्ति और वाणी पर मुक्ति कहने से वक्ता परवचन तो करता ही है, स्ववचनकारी भी होता है, क्योकि मुक्ति शब्दगम्य नही है। मोदक का माधुर्य जिह्वा-प्रतीति का विषय है, दृष्टि-प्रत्यय का आलम्बन नही। जिस परसमरसीभाव का स्वानुभव आचार्यो ने निरूपित किया है, वह शब्दो का क्रीडा-कुतूहल नही, स्वात्मप्रत्यय का प्रत्यक्ष बोध है। वह आत्मप्रदेश-स्थित अशेष कर्मपर्याय श्लेषविरहावस्था है, यथायोग्य विमल गुणो के आविर्भाव की वेला है और अमृततुल्यतृप्तिप्रद परम-समरसता की उपलब्धि है—

"मोक्षः स्वात्मप्रदेशस्थितविविधविधेः कर्मपर्यायहानि-
र्मूलात्तत्कालचित्ताद् विमलतर गुणोद्भूतिरस्या यथावत् ।
स्याच्छुद्धात्मोपलब्धेः परमसमरसीभावपीयूषतृप्तिः
शुक्लध्यानादिभावापरकरणतनोः संवरान्निर्जरायाः ।।"

—अध्यात्म कमल मार्तण्ड, १।५

जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित सवर-निर्जरात्मक, उत्तम-क्षमादि दशलक्षणात्मक, परसमयनिषेधक, स्वसमयस्थितिस्थापक, द्वादशानुप्रेक्षाभावित, दिव्यध्वनिपरमावतार, स्याद्वादनयचक्र-चारुचमत्कृत होते हुए भी निश्चयनिष्ठ यह मोक्षधर्म ही आत्मा का स्वसमय है।

निष्कर्ष

आत्मा ही निश्चय नय से समय-पद वाच्य है । जीवादि पदार्थों को अविपरीत यथास्थित रूप आत्मा ही जानता है । जब यह आत्मा विभाव-परिग्रहो का त्याग कर स्वभाव-रत्न-सम्पदा से विभूषित होता है, तव इसका उपयोग स्वसमयात्मक होता है तथा जब यह लौकिकता की ओर परिणतवृत्ति होता है तव परसमयपर्यायी होना है—

'जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ त हि ससमयं जाण ।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठिय च तं जाण परसमय ।।'

समयसार, १।२

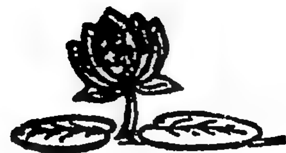
यह जीव जव सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चरित्र मे स्थित होता है वही इसका स्वसमय है तथा यही जब पुद्गल पर्यायो मे आसक्तिमान तथा कर्मबन्धन मे अपने आपको निमग्न करे तव परसमय हो जाता है ।

स्व-समय तथा पर-समय की यह विभाव-स्वभाव द्विधा विभक्त परिणति अनादिकाल से चली आ रही है । जीवोके 'ससारिणो मुक्ताश्च' कहकर जो दो भेद किये गये हैं वे इसी स्व-पर-समय के अवच्छेदक धर्म हैं । मुक्त जीव भी प्रथमावस्था मे बन्धयुक्त अथवा ससारी होते हैं अन्यथा उन्हें मुक्त नही कहा जा सकता । जो पक्षी पजर-वद्ध है वह पजर से निकलने पर निर्बन्ध अथवा मुक्त कहा जाता है । पिजरे मे न आये हुए पक्षी को, जो स्वत मुक्त है, कोई मुक्त नही कहता । अस्तु-

'वाह्यान्त परिवृत्तिमात्रविलसत् स्वच्छन्द दृक् सविद,
श्रामण्य सकल विगाह्य सहजावस्था विपश्यति ये ।
पूर्वावाप्तमपूर्वता सपदि ते साक्षान्नयन्त. सम,
मूलान्येव लुनन्ति कर्मकुशला' कर्मद्रुमस्यक्रमात् ।।

—शक्तिमणितकोप (लघुतत्त्वस्फोट), श्री अमृतचन्द्राचार्य

–जो जीव वाह्य और अन्तरङ्ग चारित्र मात्र से विलास को प्राप्त और स्वच्छन्द (निर्द्वन्द्व) सम्यग्दर्शन और सवेदन अवस्था को देखते है, वे जीव शीघ्र ही पूर्व मे अप्राप्त अवस्था को साक्षात्कार करते हुए, क्रमश कर्मरूपी वृक्ष की जड को काट देते है, वे ही कर्म कुशल है। (शेष जीव तो कर्मकुशल नही है) ।



श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर

(परिचय, लक्ष्य और कार्यक्रम)

वीर निर्वाण सवत् २४९७ की वर्षाऋतु मालवा, विशेपत इन्दौर, के लिए अमृतवर्षा सिद्ध हुई। पूज्य मुनिश्री विद्यानन्दजी के वर्षावास के सुयोग से नगर का वातावरण चिन्तनात्मक और सप्रदायातीत निर्मलता मे पगा रहा। कुछ समय के लिए तो नगर सर्वधर्मसमभाव और समन्वय की पुण्यधारा के मगल अभिपेक से एक विलक्षण तीर्थ-सा वन गया। सभी धर्म और सप्रदाय के अनुयायी एक ही विचार-मच पर मिले और विश्वधर्म जैसी उपयोगी, रचनात्मक मनोभूमिका मे अपने-आपको निमग्न किये रहे। मुनिश्री ने आध्यात्मिक रस से ओत-प्रोत अपने सरल-सुबोध और मर्म को छूनेवाले प्रवचनो से न कवल नगर अपितु सपूर्ण देश की अन्तरात्मा को जगाया और आत्म-विकास की एक स्वस्थ दिशा का निदर्शन किया। ज्ञान की जिस अखण्ड-अवुझ लौ को मुनिश्री ने चातुर्मास मे प्रज्वलित किया है, वह देश के इतिहास मे अपनी तरह की एक चिरस्मरणीय घटना है।

मुनिश्री के लोकमगलकारी चिन्तन से प्रेरणा ग्रहण कर वर्षा-योग के विसर्जन मास मे एक ऐसी सस्था के वीजारोपण का निश्चय किया गया जो धर्म के मगलप्रद रूप को जन-साधारण के सम्मुख लाये और जैनधर्म के मौलिक एव सार्वभौमिक सिद्धान्तो को सरल-सुबोध भाषा-शैली मे प्रस्तुत करे। इसके साथ ही यह भी अनुभव किया गया कि २५ सौवे वीर निर्वाणोत्सव की दृष्टि से इन्दौर की एक विशिष्ट गौरवशालिनी भूमिका होनी चाहिये। इन्दौर और अवन्तिका दोनो-ही मालवा के शस्यश्यामल भूभाग है। तीर्थंकर महावीर ने अवन्तिका को अपने पुण्यविहार से उपकृत किया था,

अत मुनिश्री के मार्गदर्शन मे यह भी सकल्पित किया गया कि श्रमणसस्कृति की लोकोपयोगिता, गरिमा एव महत्ता, भारतीय दर्शन की उदारता, विश्वधर्म की समन्वयकारी भूमिका तथा जन-जीवन को स्वस्थ और प्राजल जीवन-दर्शन देनेवाले साहित्य का सुयोग्य विद्वानो द्वारा निर्माण कराया जाए और उसे अधुनातम शैली मे प्रकाशित किया जाए। उक्त लक्ष्य की पूर्ति के लिए 'श्री वीर निर्वाण ग्रथ-प्रकाशन-समिति, इन्दौर' की स्थापना की गयी, समिति का एक सुविचारित विधान बनाया गया, पदाधिकारी तथा कार्य-कारिणी का निर्वाचन किया गया और लक्ष्य तथा सकल्प निर्धारित किये गये।

उद्देश्य इस प्रकार रखे गये—

१– ज्ञान की विलुप्त, अप्राप्य या दुष्प्राप्य और अप्रकाशित सामग्री का सुविध प्रकाशन और लोकमानस को प्रबुद्ध करनेवाले साहित्य का निर्माण,

२– भारतीय दर्शन के उज्ज्वल और समन्वयकारी स्वरूप का प्रकाशन, श्रमण सस्कृति का उन्नयन, आलोकन एव सरक्षण तथा सत्साहित्य की उन्नति और प्रचार-प्रसार की दिशा मे ठोस कार्य,

३– भारतीय दर्शन एव श्रमणसस्कृति के सम्यक् निरूपण के लिए गहन अनुसधान को प्रेरणा एव तदनुरूप व्यवस्था,

४– प्रशिक्षण-शिविरो, परिसवादो, गोष्ठियो, परिषदो तथा इसी प्रकार के सद्विचार को प्रेरित करनेवाले आयोजन तथा जन-साधारण की स्वस्थ अभिरुचि का निर्माण,

५– भारतीय दर्शन एव श्रमणसस्कृति के सदर्भ में निष्ठा से कार्यरत अन्य समानोद्देश्यीय सस्थाओ एव व्यक्तियो की सहायता,

६– उक्त लक्ष्यो की सप्राप्ति के लिए आवश्यक अर्थसचय तथा उसका समुचित विनियोग।

समिति के निम्न पदाधिकारी निर्वाचित हुए–

प्रधान सपादक : प० जीवन्धरजी न्यायतीर्थ, प० नाथूलालजी शास्त्री,

परामर्श मंडल : प० भँवरलालजी न्यायतीर्थ, प० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ, प० श्रीकान्तजी शास्त्री, प० माणिकचदजी मिषीकर, श्री पद्मचन्द्रजी शास्त्री,

अध्यक्ष : श्री राजकुमारसिहजी कासलीवाल,

कार्याध्यक्ष : श्री मिश्रीलालजी गगवाल,

मत्री : श्री बाबूलालजी पाटोदी,

कोषाध्यक्ष : श्री माणकचन्दजी पाड्या,

कार्यकारिणी के सदस्य : सर्वश्री हीरालालजी काशलीवाल, देवकुमारसिहजी काशलीवाल, गुलाबचन्दजी टोग्या, माणकचन्दजी सेठी (मल्हारगज), कैलाशचन्दजी चौधरी, सुगनचन्दजी भडारी, प० नाथूलालजी शास्त्री, डा० नेमीचन्दजी जैन, माणकचन्दजी पाटनी (राज मोहल्ला), जे० लालचन्दजी, हजारीमलजी पाटनी, रतनचन्दजी कोठारी, शान्तिलालजी डोसी, प्रो जमनालालजी काला, बाबूलालजी सोनी, श्रीमती चन्द्रावतीबाई मोदी, श्रीमती कमल बेद।

अकेक्षक : श्री डी० सी० जैन।

भावी प्रकाशन : अपने उद्देश्य के अनुरूप समिति ने मार्च १९७२ तक के लिए निम्न प्रकाशनो का लक्ष्य निर्धारित किया–

१ 'निर्मल आत्मा ही समयसार' : मुनिश्री विद्यानन्दजी

(कुन्दकुन्दाचार्य की अनर्घ्य कृति 'समयसार' पर मुनिश्री के स्वतत्र, निष्पक्ष, सारपूर्ण एव मौलिक प्रवचनो का सकलन)।

२ 'वैशाली के राजकुमार तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर'

—डा. नेमीचन्द जैन

(तीर्थंकर महावीर के जीवन की विश्वसनीय, रोचक, सुबोध एव सचित्र जानकारी देनेवाला एक अल्पमोली प्रकाशन जिसमें उनके जीवनवृत्त के साथ ही जैनधर्म के सार्वभौम सिद्धान्तो का बोधगम्य विवेचन हुआ है)

३ 'भरत और भारत' डा. प्रेमसागर जैन।

(भगवान ऋषभनाथ के ज्येष्ठ पुत्र, जिनके नाम से भारत 'भारत' कहलाया, के जीवन और महत्त्व पर डा जैन की बहु-मूल्य कृति का परिवर्द्धित सस्करण, इसमे मोहन-जो-दडो के सदर्भ मे जैनधर्म की प्राचीनता पर भी मौलिक सामग्री प्रस्तुत की गयी है)

पच्चीस सौवे वीर निर्वाणोत्सव के सदर्भ मे प्रकाशन समिति कई अप्रकाशित एव दुष्प्राप्य कृतियो एव ग्रन्थो का प्रकाशन कराना चाहती है, अत जो भी विद्वान् इस कार्य मे उसे सहयोग देना चाहे उनका हार्दिक स्वागत है तथा उनसे विनम्र निवेदन है कि वे अपनी टकित पाण्डुलिपियाँ '४८, सीतलामाता बाजार, इन्दौर २' के पते पर भिजवाये ताकि निर्णयोपरान्त उनके सपारिश्रमिक प्रकाशन की व्यवस्था की जा सके। समस्त पत्राचार 'मन्त्री श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ-प्रकाशन समिति, इन्दौर' के नाम से किया जाए।

— मन्त्री